सुबोधिनी आदौ प्रकारमाहुः । **कर्मणा कर्मनिर्हारः** । **एष** अग्रे वक्ष्यमाणः सर्वैरेव सिद्धान्तिभिः **साधु निरूपित** इति प्रमाणम् । स कः प्रकार इत्याकांक्षायामाह **यच्छ्रद्धयेति** । श्रद्धा सर्वाङ्गं **विष्णुं यजेदिति** कर्मनिर्हारकं कर्म तत्र विष्णुशब्दः इन्द्रियाधिष्ठातृपरोपीति गुरुब्राह्मणादिचरणपूजयापि परंपरया विष्णुयागो भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह-**सर्वयज्ञेश्वर**मिति । सर्वयज्ञानामीश्वरो विष्णुरत्राभिप्रेतः यो यज्ञवराहरूपेणाविर्भूतः ‘यज्ञो वै विष्णुः’ इति श्रुनेः। ‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त’ इति द्वितीयान्तवाच्यो यज्ञोऽत्राभिप्रेतः । स तु यज्ञैरेवेष्टो भवतीत्याह **मखै**रिति । ईश्वरपदेन यज्ञेष्वेव भगवतो नियोग इति भगवदाज्ञापरिपालनमिति प्रमाणमपि सूचितम् ।।३५।।

व्याख्यार्थ—आदि में प्रकार कहते हैं ‘कर्म से कर्म का नाश’[1] जिस प्रकार हो वह जो हम आगे कह रहे हैं, उसको सब सिद्धान्त वालों ने श्रेष्ठ निरूपण किया है, यों प्रमाण हैं । वह कौन सा प्रकार है, इसकी अपेक्षा होने पर कहते हैं कि, श्रद्धा से सर्वाङ्ग विष्णु का यजन करना, यह जो कर्म है उससे कर्म का[1] नाश होता है वहाँ विष्णु’ पद का भावार्थ, इन्द्रियों का अधिष्ठाता देव भी है, इस लिए गुरु और ब्राह्मणादि की चरण पूजा से भी परम्परा द्वारा विष्णुयाग होता है, इसकी निवृत्ति करने के लिए यहां ‘सर्वयज्ञेश्वर’ पद दिया है । जिसका भावार्थ है कि वसुदेव को समझाना है कि गुरु और ब्राह्मण पूजा से जो परम्परा द्वारा विष्णु याग माना जाता है उस विष्णु याग कर्म से कर्म निर्हार नहीं होगा, किन्तु सर्वयज्ञों का ईश्वर जो विष्णु, यज्ञवाराह रूप से प्रकट हुवे थे वह यहाँ अभिप्रेत है, उनके चरण पूजन कर्म से ही कर्म निर्हार होगा । जैसा कि कहा है ‘यज्ञो वै विष्णुः’ इति श्रुतिः ‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त’ इस श्रुति में जो द्वितीया विभक्ति में ‘यज्ञं’ यज्ञ शब्द दिया है वह यज्ञ रूप ‘विष्णु’ अभिप्रेत है, वे तो यज्ञों से पूजित होते हैं इस लिए कहते हैं ‘मखैः’ यज्ञों से, ईश्वर पद से यज्ञों में ही भगवान् का नियोग है इसलिए भगवान् को आज्ञा का पालन करना चाहिए, यों प्रमाण का भी सूचन किया ।।३५।।

आभास—ननु परिचर्यादिरपि पञ्चरात्राद्यागमे निरूपितः उत्सवाश्च । ततो वैष्णवमार्गं परित्यज्य कथं श्रौत एव मार्गो निरूपित इति चेत् तत्राह **वित्तस्येति** ।

आभासार्थ—सेवा आदि भी पञ्चरात्र आदि 'आगमन में कही है और उत्सव भी कहे हैं । फिर वैष्णव मार्ग का त्याग कर श्रौत मार्ग ही कैसे निरूपण किया ? यदि यों कहो, तो इसका उत्तर वित्तस्योपशमोऽयं’ श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**वित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा ।**
दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्मसुखावहः ।।३६।।

---

[1] कर्म का नाश जिसका तात्पर्य है कि श्रद्धापूर्वक विष्णु के यजन से जीव कर्म के फलरूप स्वर्गादि लोक को प्राप्त कर भगवद्भक्ति प्राप्त कर सायुज्यादि मुक्ति पाता है ।

श्लोकार्थ—विद्वानों ने शास्त्र दृष्टि से वित्तस्योपशम और मोक्ष का उपाय तथा अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला सुगम धर्म भी यह बताया है ।।३६।।

सुबोधिनी—अयं प्रकारो विद्यमाने वित्ते कविभिर्निरूपितः । वैष्णवमार्गस्तु प्रायेणाकिंचनाधिकृत एव योस्माभिर्निरूपितो यागादिरूपः स तु वित्तस्यैवोपशमजनकः । शरीरं तु तद्द्वारा उपयुज्यते । एषा युक्तिरप्रमाणमिति चेत् तत्राह **कविभिः शास्त्रचक्षुषेति** । कर्तुः साधनस्य चोत्कर्षो निरूपितः । किंच । अयं सुगमो योगः । शरीरक्लेशापेक्षया बहिरङ्गत्वात् । किंच । अयमस्माभिर्धर्मो निरूपितः । न तु भक्तिः । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्’ इति श्रुतेः । एतस्य कर्मनाशकत्वमग्रे वक्तव्यम् । धर्मत्वे किं स्यादित्याशङ्कायामाह **आत्मसुखावह** इति । आत्मसुखमावहतीति, एतस्य कर्मनिर्हारकत्वं प्रतिज्ञातमिति आत्मसुखजनकत्वमधिकमित्यधिकं ज्ञातव्यम् ।।३६।।

याख्यार्थ—यह प्रकार विद्वानों ने धन होते हुए ही बताया है अर्थात् जिनके पास धन है, वे यज्ञों द्वारा विष्णु का पूजन करें, वैष्णव मार्ग तो जो अकिञ्चन हैं, उनके लिऐ ही है । हमनें जो यागदि, प्रकार कहा है वह धनाढयों के लिए ही है । क्योंकि यों करने से वित्त से जो अनर्थ होते हैं वे नहीं होंगे । यदि कहो, कि शरीर भी यज्ञ द्वारा भगवान् के कार्यों में लग जाता है, तो यह युक्ति लौकिक होने से प्रमाणभूत नहीं हैं हमनें जो कहा है वह विद्वानों ने लौकिक युक्ति से सिद्ध नहीं किया है, किन्तु शास्त्र दृष्टि से अर्थात् जो शास्त्रों में कहा है उसको देखकर ही कहा है, अतः वही प्रमाण भूत समझ हमने कहा है. इससे कर्ता और साधन दोनों का उत्कर्ष निरूपण किया है । किञ्च । वह सुगम योग है. क्योंकि, शरीर क्लेश को अपेक्षा वहिरङ्ग है, और विशेष, यह जो हम लोगों ने कहा है, वह ‘तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्’ इस श्रुति के अनुसार धर्म (कर्म) कहा है, न कि भक्ति कही है, यज्ञ द्वारा कर्म नाश होता है यह आगे कहा जायेगा, धर्म पन से क्या होगा ? जिसके उत्तर में कहते है कि ‘धर्म’ आत्म सुख देता है, इसको कर्म नाशक माना गया है आत्म सुख जनक है, यह तो अधिक है यों जानना ।।३६।।

आभास—नन्वन्येष्वपि मार्गेषु विद्यमानेषु कथमयं निरुक्त इति चेत् तत्राह **अयं स्वस्त्ययनः पन्था** इति ।

आभासार्थ—जब कि दूसरे मार्ग भी विद्यमान हैं तो कैसे यह ही प्रमाण समझ कर कहा ? यदि यों कहा जाय तो इसका उत्तर निम्न श्लोक में देते हैं:—

श्लोक—**अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।**
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम् ।।३७।।

श्लोकार्थ—न्याय से इकठ्ठे किए हुए धन से श्रद्धा पूर्वक ईश्वर का यज्ञादि से पूजन करना यह ही गृहस्थी द्विजाति के लिए कल्याण का मार्ग हैं ।।३६।।

सुबोधिनी--गृहस्थस्यायमेव मार्गः **स्वस्त्ययनः** अन्ये तु सर्व एव मार्गा गार्हस्थ्यभञ्जकाः । 'यदनुचरितलीला' इत्यादिषु निरूपिताः । अतोयमेव मार्गो गृहस्थं गृहे स्थापयति । किंच । द्विजातिमात्रस्यात्राधिकारः अन्यत्र त्वन्यदपि बीज-संस्कारादिकमधिकारिविशेषण मृग्यते । एवं साधयित्वा निश्चितं विशिष्टमनुवदति **यच्छ्रद्धयेति** । **आप्तेन** स्वयं प्राप्तेन, **वित्तेन** अनाशकेन हितकर्त्रा, **शुक्लेन** सन्मार्गप्राप्तेन, **पूरुषं** यज्ञपूरुषं **शुद्धया** यजेत इति यत् **अयमेव पन्था** इति संबन्धः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—गृहस्थी के लिए यह ही मार्ग कल्याण कारी है, दूसरे सब मार्ग ,गृहस्थ धर्म को तोड़ने वाले हैं, 'यदनुचरितलीला' इत्यादि में निरूपण किये हैं अतः यह ही मार्ग है जो गृहस्थ को गृह में स्थापित करता है । किञ्च । इस धर्म में द्विजाति मात्र को अधिकार है, दूसरों में तो अन्य भी हैं जैसे, बीज और संस्कार आदि से अधिकार[1] प्राप्त अधिकारी चाहिए । इस प्रकार सिद्ध कर निश्चित और जो उत्तम है उसको कहते हैं, 'यच्छ्रद्धया' अपने आप इकट्ठे किए हुए, हितकारी तथा सत्य मार्ग से कमाए हुए पवित्र धन से यज्ञ पुरुष का श्रद्धा से यजन करे, यों जो मार्ग है वह ही इसके लिए उचित है, इस प्रकार सम्बन्ध है ।।३७।।

आभास—नन्वेतस्य कर्म निर्हारकत्वं तत्राह **वित्तेषणा**मिति ।

आभासार्थ—इस यज्ञ द्वारा भगवान् के पूजन को कर्म निर्हार कैसे ? इसका उत्तर 'वित्तेषणां' श्लोक से देते है ।

श्लोक—**वित्तेषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतेषणाम् ।**
आत्मलोकेषणां देव कालेन विसृजेद्बुधः ।।
ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्वे ययुर्धीरास्तपोवनम् ।।३८।।

श्लोकार्थ—जिसके मन में धन की आशा हो, अर्थात् जो धनवान होना चाहता है उसको इस आशा को त्यागने के लिए प्रथम धन शुद्ध रीति से कमाना चाहिए, धन इकठ्ठा होने के बाद उससे मोह निकालने के लिए वह धन यज्ञ और दान आदि में खर्च करना चाहिये, जिससे आशा मोह का नाश हो जावे । जिसको स्त्री व पुत्र की कामना हो, उसको गृहस्थी हो, पुत्र आदि प्राप्त कर उनसे व्यवहार सुखादि का अनुभव कर उनसे ईषणा (कामना) का त्याग करना चाहिए । हे देव ! स्वर्गादिलोक की कामना को स्वर्ग में जाकर वहाँ के सुख भोग काल से लौट आने से उस ईषणा को बुद्ध पुरुष छोड़ दें । इस प्रकार ग्राम में रहते हुए ईषणाओं का त्याग कर बहुत धीर पुरुष तपोवन में प्रविष्ट हुए हैं

१- ज्ञान मार्ग में पञ्चाग्नि विद्या से साधित देह चाहिये और भक्ति मार्ग में अलौकिक देह चाहिये । ऐसे देह वाले ही उन मार्गों में अधिकारी हो सकते हैं ।
२- 'वित्त' अर्थात् धन, इस पद का भावार्थ है कि धन हितकारी और रक्षक है । यच्छ्रद्धया कहते हैं ।

सुबोधिनी—ईषणात्रयपरित्यागः कर्मबन्धाभावज्ञापकः । कर्माणि हि ईषणाद्वारैव बध्नन्ति । ईषणाभावे तु कर्माभावः सिद्ध एव । लोके ईषणात्रयं **वित्तेषणा दारेषणा लोकेषणे**ति । त्रयाणां परित्यागप्रकार उच्यते **वित्तेषणां यज्ञदानै**रिति । यस्य वित्ते महतीच्छा भवति तेन वित्तोपार्जनं कृत्वा यज्ञदानानि कर्तव्यानि ततो वित्तस्य बहुधा व्यवहृतत्वात् तदिच्छा निवर्तते । अदृष्टद्वारापि तद्यज्ञदानादिकमन्तःकरणशुद्धिमुत्पाद्य निवर्तयतीत्यवगन्तव्यम् । ततो **दारसुतेपणा** गृहस्थाश्रमैर्दूरीकर्तव्या । गार्हस्थ्ये तासां संव्यवहारो बहुधा भवतीति दारसुतानां व्यवहृतत्वात् तदिच्छापि निवर्तते । **आत्मनां लोकानां** स्वर्गादिलोकाना**भीषणा देव कालेन** देवैः सहः क्रीडया **बुधः** पण्डित एव **विसृजेत्** । तत्र वैराग्यस्य ज्ञानैकसाध्यत्वात्, अत एव वेदे स्वर्गार्थमेव यज्ञा निरुक्ताः । अन्यत्तु द्वयं प्रसङ्गादेव सेत्स्यति । स्त्रीवित्तव्यतिरेकेण यज्ञाभावात्, अत एव स्त्रीणामधिकारशरीरे प्रवेश उक्तः । धनस्य च क्रियायाम् । अन्यथा मानसा एव यज्ञा वेदे उक्ताः स्युः । अन्यथा श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद्' इति वाक्याद् द्रव्ययज्ञानामधमत्वे तत्प्रतिपाद्यो वेदो विद्ध्येत । इदमेव वेदस्य तात्पर्यं मन्यन्ते मुनयः अत एवात्मसुखावहो धर्म इति स्वर्गात्मकयज्ञार्थमेव यागाः कर्तव्या इति यथा श्रुतैव श्रुतिः समर्थिता । अत एवाश्रमधर्माणामपि विधिरिति वक्तुं गार्हस्थ्यविधेरेतदेव प्रयोजन-मित्याह **ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्वं** इति । ग्राम एव स्थित्वा ईषणाविनिर्मोकः कर्तव्यः अनेनैतज्ज्ञापितं पूर्वं यागे कृते स्वर्गे च जाते ततो लोकविरागं प्राप्य पुनरागत्य गार्हस्थ्य एवाङ्गत्वेन पूर्वं व्यवहृतसुवर्णस्त्रीणां लोकाकांक्षाभावात् प्राधान्येन व्यवहार कृत्वा तत् ईषणात्रयं परित्यज्य तथा चित्तशुद्ध्यभावे विक्षिप्तमपि मनः धैर्यं प्रापयित्वा सम्यक् चित्तशुद्ध्यर्थं पुनर्गमनक्लेशं परित्यज्य **तपोवनमेव विविशुः** । तपसा सम्यक् चित्तशुद्धिर्भविष्यतीति ये त्वेकजन्मपरतयैव सर्वं व्याचक्षते ते चिन्त्याः । **देवेति** वसुदेवसंबोधनम् । कालेनेत्यनुपायं चाहुः तेषां लोकेषणाया अनिवृत्तत्वात्कथं सर्वेषणापरित्याग इति । **बुध** इत्यनेन ज्ञानेनैव तन्निवृत्तिः अन्यत्रापि तुल्या । किंच पूर्वं यागानां कर्तव्यता ईषणापरित्यागार्थमुक्ता तद्द्वारा कर्मनिर्हरणार्था भवति ।।३८।।

व्याख्यार्थ—कर्म बन्धन न हो, जिसके लिए तीन प्रकार की ईषणाओं का त्याग करना चाहिए, ईषणा अर्थात् कामनाएँ, इनके द्वारा ही कर्म, बन्धन में डालता है । कामना न हो तो कर्म का स्वतः अभाव हो जाता है, फिर बन्धन का प्रश्न ही नहीं रहता है । लोक में वित्तेषणा, दारेषणा, लोकेषणा, यों तीन प्रकार की ईषणाएँ हैं इन तीनों का त्याग कैसे हो ? जिनके त्याग का प्रकार बताते हैं वित्तेषणा को यज्ञ और दानादि से नष्ट करे, जिसको धन की बहुत इच्छा है उसको चाहिए कि वित्त का उपार्जन कर यज्ञ और दानादि करे, जिससे धन का बहुत कार्यों मे फैल जाने से उसकी आशा स्वतः निवृत्त होती जाएगी । वह यज्ञ, दान रूप कर्म अदृष्ट द्वारा भी अन्तःकरण की शुद्धि को कर कामना को निवृत्त कर देता है, पश्चात् यदि स्त्री और पुत्र की चाहना हो, तो गृहस्थाश्रमी बन कर उस चाहना को हटाना चाहिए क्योंकि, गृहस्थाश्रम में स्त्री पुत्र आदि का व्यवहार अनेक प्रकार का होता है, जिसका अनुभव करते हुए मनुष्य ऊब जाता है, जिससे उसकी कामना धीरे-धीरे स्वतः मिट जाती है । जो बुध अर्थात् पण्डित हैं, व स्वर्ग आदि लोकों की कामना को, वहाँ कुछ समय रह कर देवताओं से क्रीडा करते हुए वहाँ का सुख भोग पश्चात् उसको त्याग दें, वहाँ वैराग्य, केवल ज्ञान से सिद्ध होता है, अतएव वेद में स्वर्ग के लिए ही यज्ञों का करना लिखा है, दूसरे दो, तो प्रसङ्ग से ही आएँगे । स्त्री और धन के सिवाय यज्ञ हो नहीं सकता है,

अत एव स्त्रियों का अधिकार शरीर में प्रवेश कहा है, और धन का क्रिया में प्रवेश कहा है अर्थात् स्त्री होने पर ही पुरुषों को यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त होता है । धन होने से ही यज्ञ का कार्य सिद्ध होता है, यों नहीं होता तो वेद में मानस यज्ञ ही कहे जाते थे, अन्यथा 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद्' इस वाक्य से द्रव्य यज्ञों के अधमपन होने से उसका प्रतिपादक वेद विरुद्ध हो जाए, मुनि वेद का यही तात्पर्य मानते हैं, अत एव आत्म सुख देने वाला धर्म है, इस लिए स्वर्गात्मक यज्ञ के लिए ही त्याग करना चाहिए यों यथाश्रुत श्रुति का समर्थन किया है । इस कारण से, आश्रम धर्मों की भी विधि है यों कहने के लिए गार्हस्थ्य विधि का यही प्रयोजन है वह बताते हैं कि ग्राम में ही रह कर ईषणा (कामनाओं) का त्याग करना चाहिए, इससे यह जताया कि पूर्व जन्म में त्याग करने से स्वर्ग मिला, वहाँ रहकर लोक विराग पाकर फिर आके गार्हस्थ्य ही अङ्गत्व होने से, पहले स्त्री और स्वर्ग तथा लोकों की जो आकाङ्क्षा थी, उसके मिट जाने से प्रधानता से व्यवहार कर, उन तीन ईषणाओं का त्याग, तथा चित्त की शुद्धि के अभाव में मन की विक्षिप्तता होते हुए भी धर्य धारण कर, सम्यक् चित शुद्धि के लिए, फिर जाने से क्लेश को त्याग कर तपोवन में ही प्रवेश किया । तपस्या से ही चित्त की शुद्धि होगो, यों जो कोई एक जन्म में ही हो जाएगा इस प्रकार विचारते हैं, वे विचारणीय हैं, अर्थात् इनके इस सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए कि, यह कहाँ सत्य सिद्ध होता है, हे देव ! यह वसुदेव के लिए संबोधन है, कालेन' पद से कोई अन्य उपाय नहीं है । यों कहतें हैं, क्योंकि उनकी लोकेषणा हो निवृत्त नहीं हुई है, तो सब ईषणाओं का परित्याग कैसे होगा ? 'बुध, पद से यह बताया है कि ज्ञान से ही उनकी निवृत्ति होती है । अन्यत्र भी तुल्य है, पहले यज्ञों की कृर्तव्यता ईषणाओं के परित्याग के लिए कही है, उनके द्वारा वह कर्म निर्हरण के अर्थ वाली होगी ॥३८॥

आभास— इदानीं तु ऋणापाकरणार्थमेव यज्ञाः कर्तव्या इत्याह **ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जात** इति ।

आभासार्थ—अब 'ऋणैस्त्रिभिः' श्लोक से ऋणों के भार को उतारने के लिए यज्ञ करना चाहिए यों कहते है ।

श्लोक—ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृऋणां प्रभो ।
यज्ञाध्ययनदानैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे वसुदेवजी ! द्विज, तीन ऋणों को लेकर जन्मा है (१) देव (२) ऋषि और (३) पितरों का इन तीन ऋणों को यज्ञ, वेदाध्ययन और दान द्वारा न उतार कर यों ही जो वन में चला जाता है उसका पतन होता है ॥३९॥

सुबोधिनी— 'जानमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति श्रुतेः । ब्राह्मणों जायमानः उपनीयमानः । तानि ऋणानि गणयति **देवर्षिपितृऋणामिति** 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य' इति श्रुतेः अत्र तु पित्रर्णपरित्यागं दानेनाह **यज्ञाध्ययनदानैरिति** । दानमत्र संततिदानमेव, पिण्डदानमित्येके । तत्पुत्राणां कर्तव्यमिति फलतो निरूपितम् । येषां पुनः ईषणाविनिर्मोको जात एव तेषामपि ऋणविमोको न जात इति मुख्यपक्षे गार्हस्थ्यानन्तरमेव संन्यास इति मतमाश्रित्याह **अनिस्तीर्य त्यजन् पते**दिति 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् अनपाकृत्य तांस्त्रींस्तु मोक्ष मिच्छन व्रजत्यधः' इति मनुवाक्यात् । ननु 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतेः का गति । उच्यते । ईषणाभाव ऋणाभावाश्च मोक्षात्पूर्वभावी । एकमधिकारिविशेषणं,द्वितीयः प्रतिबन्धकाभावः । अधिकारिविशेषणं तु मृग्यमेव । प्रतिबन्धकाभावे तु भगवद्भजनोत्तमभक्तसद्भावेपि कार्यं भवति । यथा तदवदानैरेवावदयत इति अङ्गावदानेनापि ऋणत्रयमपागच्छति । एवं स्वाध्यायेनापि केवलेन पूर्वं बहुधा ऋणापाकरणं कृतम् । 'यं यं क्रतुमधोते तेन तेनास्येष्टं भवति' इति । 'भ्रातृऋणामेकजातानाम्' इति वाक्यन्यायेन भ्रातृपुत्रण पितृऋणनिवृत्तिसंभवे अन्यैर्वा दत्तादिभिः 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति वाक्यं सिद्ध भवति । तस्माद्यो मुख्यः प्रथमाधिकारी तेन ऋणापाकरणमीषणानिवृत्तिश्च कर्तव्येति ऋषिभः साधूक्तम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण जन्मते ही तीन ऋणों वाला बनता है, यों श्रुति कहती है वे ऋण बताते हैं(१)देवऋण*(२)ऋषिऋण(३)पितृऋण इन तीनों को इस प्रकार उतारना चाहिए,ब्रह्मचर्य** धारण कर वेद आदि पढ़ कर ऋषि ऋण उतारना चाहिए, यज्ञों को कर देव ऋण से मुक्त होना चाहिए, प्रजा पैदा कर पितृ ऋण से मुक्ति पानी चाहिए, यहां मुनियों ने दान से, पितृऋण से मुक्ति पानी कही है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ दान का तात्पर्य सन्तति उत्पन्न कर देना, यह दान का आशय है, कोई कहते हैं कि 'दान' का तात्पर्य पिण्ड दान है, पिण्ड दान करना पुत्रों का कर्त्तव्य है, यह फल से निरूपण किया है । जिन की फिर ईषणाएं छुट भी गई हैं उनके ये तीन ऋण नहीं उतरते हैं, यों मुख्य पक्ष में गृहस्थ के बाद ही संन्यास की आज्ञा है । इस मत को लेकर कहते हैं कि इन ऋणों को न उतार कर जो संन्यास लेता है वा वानप्रस्थी बनता है । उसका पतन होता है, इसीलिए मनु ने भी कहा है कि तीन ऋणों को उतार कर मोक्ष में मन[1] लगावे । यदि यों हो तो 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतियों का निर्णय कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि इसका निर्णय यों होगा, ईषणाओं का अभाव और ऋणों का अभाव मोक्ष से प्रथम होने वाले हैं । एक अधिकारी का विशेषण है और दूसरा प्रतिबन्धक का अभाव है, अर्थात् जिसकी ईषणाएं निवृत्त हो गई हैं, वह अधिकारी है, और जिसने ऋण चुका दिए हैं उसके प्रतिबन्ध मिट गए हैं । अधिकारी के विशेषण तो विचारणीय हैं ही प्रतिबन्धक ऋणों के अभाव हो जाने पर तो भगवद्भजन की वृद्धि करने वाले सद्भाव में भी, कार्य सिद्ध होता है । जैसे 'तदवदानैरेवावदयत' यों अङ्ग मात्र कार्य से भी तीन ऋण उतर जाते हैं, इसी प्रकार केवल ब्रह्मचर्य धारण कर वेद अध्ययन से भी आगे बहुतों ने ऋणों से मुक्ति पाई है । जैसा कि कहा है 'यंयं क्रतुमधीते[2] तेन तेनास्येष्टं भवति भ्रातृणामेकजातानाम्'[3] इस वाक्यानुसार भ्राता के पुत्र

---

* जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते इतिश्रुति,

** ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति श्रुतिः

१—ऋणाति त्रीव्युपाकृत्य मनो मोक्षे निवेश्यतेत् अनपाकृत्य तांस्त्रीस्तु मोक्षामिच्छान् व्रजन्पघःमनुः

२—जिस-जिस वेद को पढ़ता है उस-उस से उसका मनोरथ पूर्ण होता है

३—भ्राता के पुत्र भतीजों के.

द्वारा पिण्ड दान पितृ ऋण की निवृत्ति हो जाती है अथवा दत्तक (गोद) लिए हुए आदि द्वारा पिण्ड दान से भी पितृ ऋण उतर जाता है इसी प्रकार 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' वाक्य की सिद्धि हो जाती है, इस कारण से, जो मुख्य प्रथम अधिकारी है, उसको ऋणों से मुक्ति और ईषणाओं से निवृत्ति लेनी चाहिए, यों ऋषियों ने जो कहा है वह सुन्दर अच्छा कहा है ।।३९।।

आभास—एवं ऋणापाकरणकर्तव्यतामुक्त्वा ऋणत्रयमध्ये ऋणद्वयमतीतं ऋणमात्रमवशिष्यत इत्याहुः **त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यामिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार ऋणों से मुक्त होने की कर्त्तव्यता कह कर तीन ऋणों में से दो ऋण तो आपने उतार दिए हैं, शेष देव ऋण यज्ञ द्वारा उतार दो ये दो निम्न श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—**त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।**
यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव ।।४०।।
वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।
जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे महामते ! तुम ऋषि और पितृ ऋण से मुक्त हो गए हो, अब यज्ञ कर देव ऋण से उन्मुक्त हो जाओ, यों करने से सर्व ऋणों के बन्धन से छूट जाओगे, पश्चात् सब त्याग करना उचित होगा । हे वसुदेव ! तुमने जगत् के स्वामी ईश्वर का परम भक्ति से पूजन किया है जिससे प्रभु तुम्हारा पुत्र बना है ।।४०-४१।।

सुबोधिनी—वेदाः पठिताः पुत्राश्चोत्पादिता इति ऋषिपित्रो ऋणाभ्यां भवान् मुक्तः । **महामत** इति यज्ञाधिकारो निरूप्यते अजडत्वाय । अतो **यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणः सन पश्चादशरणः** सर्वपरित्यागे युक्तो **भवे**त्यर्थः । भिक्षुर्हि अनग्निरनिकेतनो भवति । एवं प्रकारत्रयेण यज्ञकरणमुपदिष्टं कर्मनिर्हारार्थमीषणापरित्यार्थं ऋणापाकरणार्थं चेति । भगवान् भवदीयो जात इति भगवत्पूजार्थं च कर्तव्यमित्यग्रिमश्लोकेनोच्यत इत्येके । अन्ये तु तव देवादिऋणमेव नास्ति त्वं यतो **जगतामीश्वरं प्रार्चः** अतस्तव यागस्यान्यत्र विनियोगाभावात् कर्मनिर्हारार्थमेव तव यज्ञो भविष्यतीत्याहुः वस्तुतस्तु त्वं कृतार्थः । तव कर्मनिर्हारादिकं नापेक्ष्यत इति मूलप्रश्ने उत्तरमुक्तं भवति । **परमया भक्त्या** पूजितश्चेद्भगवान् परमप्रीत्याश्रयः स्वयमपि जात इति **स पुत्रतां गत** इत्यर्थः । एवं यज्ञाः कर्तव्या इत्युक्तं भवति ।।४०-४१।।

व्याख्यार्थ—तुमने वेद पढे पुत्र उत्पन्न किए यों ऋषि तथा पितरों के ऋण से मुक्त हो गए हो, तुम जड़ नहीं हो, अर्थात् समझदार हो इस लिए आपको यज्ञ करने का अधिकार है, अतः यज्ञों के करने से देवों का ऋण उतार कर उऋण हो पीछे सर्व परित्याग करने में मन लगाओ । त्यागी ही अग्नि और अनिकेत होता है, इसी भाँति, यज्ञ के करने का तीन तरह उपदेश दिया है ।

ईषणाओं के त्याग, कर्म के नष्ट हो जाने के लिए तथा पितृ ऋण चुकाने के वास्ते, भगवान् आपके हुए, इस लिए उनके पूजन के लिए यज्ञ करने चाहिए यों आगे के श्लोक से कोई कहते हैं, दूसरे कहते हैं, कि तुम्हें तो देवऋण है ही नहीं, क्योंकि तुमने जगतों के ईश्वर की पूजा की है जिससे वे तुम्हारे पुत्र हो, प्रगट हुए हैं, अतः तुम्हारे यज्ञ का विनियोग अन्यत्र नहीं होगा, कर्म मिटाने के लिए ही तुम्हारा यज्ञ होगा, वास्तव में आप तो कृतार्थ ही हैं तुम्हे कर्म मिटाने की अपेक्षा ही नहीं है, यों मूल प्रश्न का उत्तर दिया है, परमा-भक्ति से पूजे हुए भगवान्, परम प्रीति के आश्रय स्वयं भी हुए हैं इस लिए ही वे तुम्हारे पुत्र बने हैं, इस प्रकार यज्ञ करने चाहिए, यों कहा है ।।४०, ४१।।

आभास—ततो ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यमिति देवानामपि कुरुक्षेत्रमेव वेदिरिति भाग्यतो ऋषयः समागता इति तेषां वचनं कृतवानित्याह **इति तद्वचनं श्रुत्वेति ।**

आभासार्थ—यज्ञ में ऋत्विज, ब्राह्मण ही होते हैं, देवों की वेदी (यज्ञ स्थली) कुरुक्षेत्र ही है, भाग्य से यहां ऋषि भी आगए हैं, इस लिए उनका वचन मान कर यज्ञ करने लगे वह 'इति तद्वचनं श्रुत्वा' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।**
तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्ध्नानम्य प्रसाद्य च ।।४२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि महामना वसुदेवजी ने ऋषियों के ये वचन सुनकर, उन ऋषियों को मस्तक से प्रणाम किया और उनकी स्तुति की, अनन्तर उनको ऋत्विक बनाया ।।४२ ।

सुबोधिनी—**महामनाः** यज्ञकरणे प्रोत्साहयुक्तः । **तानेव पूर्वोक्तानृषीन्** । **ऋत्विक्त्वेन वव्रे** । ओदनं पचतीतिवत् वरणेन तान् ऋत्विजः कृतवानित्यर्थः । **मूर्ध्नानम्ये**ति नमनेनैव वशीकृताः । अस्माभिरुक्तं कर्तव्यमिति कथमस्माभिरेव यागः कर्तव्य इति तेषां संकोचाभावः कारित इत्याह **प्रसाद्ये**ति । **चकारात्** स्तोत्रादिकमपि कृत्वा ।।४२।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी को महामना कहने से यह सिद्ध किया है, कि ऋषियों की यज्ञ करने की आज्ञा सुनकर उत्साह से युक्त हो गए अर्थात् यज्ञ करने के लिए तैयार हो गए सूमों (कंजूसों की तरह धन भारी व्यय होगा इससे धन कम हो जाएगा, ऐसा विचार मन में आने नहीं दिया इस लिए वसुदेवजी को 'महामना' कहा है । पहले कहे हुए उपदेश करने वाले ऋषियों को ही ऋत्विक बनाया है 'ओदनं पचति' इसी तरह वरण करने से उनको ऋत्विक किए, यों अर्थ है, मस्तक से प्रणाम किया, जिससे उनको वश कर लिया, हमने जिस यज्ञ का उपदेश किया है वह याग हम ही ऋत्विग् बनकर करें, इस विचार से ऋषियों को भी संकोच न हुआ, क्योंकि उनको प्रसन्न कर वश में कर लिया था, 'च' पद से यह सूचित किया है कि स्तुति आदि भी कर ऋषियों को प्रसन्न कर वश में किया ।।४२।।

आभास—ततः सोमप्रवाककृत वरणे जाते द्वैपायनादयः तं याजयामासुरित्याह **त एनमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् शास्त्रानुसार वरण हो जाने पर द्वैपायन आदि ऋषियो ने उसको यज्ञ करवाया यों 'त एनमृषयो' श्लोक में वर्णन करते हैं

श्लोक—**त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकः ।**
तस्मिन्नयाजयन्क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! धार्मिक रीति के अनुसार वरे हुए ऋषि लोग, कुरुक्षेत्र में धर्मात्मा वसुदेवजी को, उत्तम कल्प युक्त यज्ञों से यजन कराने लगे ॥४३॥

सुबोधिनी—**धर्मेण** न तूत्कोचनादिकं कृत्वा यतो **धार्मिकः** सः । यादवाः वैदिकधर्मेण प्रशस्ता इति वसुदेवे विशेष उक्तः **तस्मिन्नेव क्षेत्रे अयाजयन्** । **मखैः** सर्वैरेव । **उत्तमः** कल्पो येषां न क्वाप्यनुकल्पः कृत इत्यर्थः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—धर्म पूर्वक ही यज्ञ कराए, न कि उत्कोचन आदि से यज्ञ कराए, क्योंकि यादव सब वैदिक धर्म से कर्म करने में प्रशंसा किए हुए हैं जिसमें भी वसुदेव को विशेष कहा है, उस ही कुरुक्षेत्र में यज्ञ करनें लगे सब यागों से कर्म करने लगे वह कर्म यज्ञ उत्तम कल्प से किया, कहीं भी अनुकल्प नहीं किया यों अर्थ है ॥४३॥

आभास—एवं वैदिकसमृद्धिमुक्त्वा लौकिकसमृद्धिमाह **तद्दीक्षायां प्रवृत्तायामिति** ।

आभासार्थ—वैदिक समृद्धि कह कर 'तद्दीक्षायां' श्लोक में लौकिक समृद्धि कहते हैं ।

श्लोक—**तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।**
स्नाताः सुवाससो राजन्राजानः सुष्ठ्वलंकृताः ॥४४॥

श्लोकार्थ—जब वसुदेवजी ने यज्ञ की दीक्षा ली तब सब यादवों ने कमल माला धारण की और सब अन्य राजाओं ने स्नान कर, सुन्दर वस्त्र धारण कर आभुषणों से अपने को अलंकृत किया ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्व एव **वृष्णयः** कमलमालायुक्ता जाताः । अनुवादो वा । अनेन भगवत्सारूप्यं निरूपितम् । ततः **स्नाताः** अभ्यङ्गेन, **सुवाससो** जाताः **अलंकृताश्च** ॥४४॥

व्याख्यार्थ—सब यादवों ने कमल माला धारण की, अथवा अनुवाद है । इससे उन्होंने अपना भगवान् से सारूप्य प्रकट दिखाया, राजा लोग अभ्यङ्ग लगा के स्नान कर, सुन्दर वस्त्र पहन आभूषणों से अलंकृत हुए ॥४४॥

कारिका—शिवादिसर्वदेवानां दातृत्वमविचारतः ।
विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः ॥७॥

कारिकार्थ—शिव आदि देव बिना विचार किये दान देते हैं, किन्तु विचार पूर्वक श्रेष्ठ ढंग से दान देने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं ॥७॥

कारिका—अविचारितदानेन स्वयं दातापि नश्यति ।
सम्प्रदानस्य का वार्ता तस्माच्छ्रीशो न तत्प्रदः ॥८॥

कारिकार्थ—बिना विचार किये यों ही दान देने से दाता का भी नाश होता है तो लेने वाले की क्या दशा होगी ? वह कही नहीं जाती है, इससे लक्ष्मीपति बिना विचार किए दान नहीं देते है ॥८॥

कारिका – दुष्टैव श्रीरन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा ।
कृष्णमेव ततो वाञ्छेन् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित् ॥९॥

कारिकार्थ—अन्य किसी के पास जो लक्ष्मी जाती है, वह चंचल दोष युक्त है, केवल जो लक्ष्मी भगवान् के पास है वह चंचल दोष रहित होने से शुद्ध है, जिससे भगवान् दोष रहित हैं, अतः बुद्धिमान को भगवान् की प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए न कि लक्ष्मी की इच्छा करनी चाहिए ॥९॥

आभास—पूर्वाध्याये परब्रह्मरूपे भगवति प्रमाणविषयदोषान् परिहृत्य प्रमेयविषये भगवद्दोषपरिहारार्थमध्यायान्तरमारभते । तत्र राजा भगवति दातृत्वे संदिहानः अदातृत्वस्य च लोके निन्दाश्रवणान् निर्णयार्थं पृच्छति **देवासुरमनुष्येष्विति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—परब्रह्मरूप भगवान् कृष्ण में, प्रमाण विषयक जो सत्यादि गुणरूप दोष प्राप्त हुए थे, पूर्वाध्याय में निर्गुण ही प्रमाण विषय है यों कहकर उन दोषों का परिहार किया । अब प्रमेय रूप भगवान् श्रीकृष्ण में अदातृत्व आदि दोषों के परिहार के लिए यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हैं, राजा परीक्षित भगवान् में दातृत्व का संदेह करता है और लोक में अदाता को निन्दा सुनी जाती है, जिससे इस विषय के निर्णय के लिए 'देवासुर मनुष्येषु—से दो श्लोकों में पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच—**देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।**
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि देव, असुर और मनुष्यों में जो अशिव शिव का भजन करते हैं, वे धनादि से सुख भोगते हैं अर्थात् उनके पास प्रायः धनादि सुख के साधन प्राप्त होते हैं और जो हरि की सेवा करते हैं, वे न धनाढ्य होते हैं तथा न ही सुख भोगते हैं ॥१॥

सुबोधिनी - त्रिविधा जीवा उपासनसमर्था-स्तेषां भगवदुपासनं विधीयते अन्योप सन-व्यावृत्तिपूर्वकम् । तत्रान्येषामैहिकदातृत्वे कथं व्यावृत्तिः स्यादिति महादेव उपक्षिप्यते । त्रिविधेषु जीवेषु ये **अशिवं** लक्ष्मीकृतशोभारहितं नाम्ना शिवं कल्याणरूपं वा **ये भजन्ति ते प्रायेण धनिनः** । ज्ञानार्थिनस्तु ततो धनं न वाञ्छन्ति इति **प्रायेणोक्तम्** । **भोजा** भोक्तारश्च । दान-भोगक्षमं धनं शिवः प्रयच्छतीति, यदि भगवानपि प्रयच्छेत् तदोक्तं दूषणं न संगच्छत इति प्रकृते निषेधति **न तु लक्ष्म्याः पतिमिति** विद्यते लक्ष्मीः स्वयं परदुःखहर्ता च ये लक्ष्मीपतिमुपासते न ते धनिनो न वा भोजा इत्यर्थः । गुणानां तारतम्य-मत्रः विचार्यंते इति तुल्यता ।।१।।

व्याख्यार्थ—देव असुर और मनुष्य तीन प्रकार के जीव ही क्यों कहे ? पशु आदि भी जीव हैं वे क्यों न कहे ? अतः यो कहने का हेतु आचार्य श्री 'उपासन समर्थाः' पद से प्रकट करते हैं कि, इन तीनों के सिवाय पशु आदि जीव उपासना करने में असमर्थ हैं, इसलिए ये तान कहे हैं, ये तीन ही उपासना कर सकते हैं, यों कहकर दूसरे देवों की उपासना का निषेध दिखा भगवान् को ही उपासना का विधान करते हैं, दूसरे देव भी ऐहिक सुख देते हैं, उनका निषेध कैसे किया जाता है ? इसलिए इस सम्बन्ध में महादेव की सूचना करते हैं, इन तीन प्रकार के जीवों में से जो, लक्ष्मी द्वारा प्राप्त शोभा से रहित हैं ऐसे शिव की उपासना करते हैं, वे धनी होते हैं, जो ज्ञान चाहते हैं वे तो बहुत कर शिव से धन की इच्छा नहीं करते हैं, और वे, केवल धनी नहीं किन्तु भोगी भी होते हैं, कारण कि शिव वह ही धन देता है जिस धन से दान[१] भोग हो सके, जो कदाचित् हरि, धन देवे तो, उस धन में कहा हुआ भोगादि दूषण न होगा, इसलिए प्रकृति में निषेध करते हैं कि, वे लक्ष्मी के पति का भजन करने वाले वैसे नहीं होते हैं, अर्थात् पैसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, यद्यपि लक्ष्मी भगवान् के पास है, जिससे आप शोभायमान भी हैं तो भी नहीं देते हैं, क्योंकि वे आप सकल प्रकार के दुःखों के हर्ता हैं, अतः जो लक्ष्मी के पति की सेवा करते हैं, वे न धनी बनते हैं और न भोगी होते हैं, दोनों में स्वरूप से तो तुल्यता[२] है किन्तु गुणों के कारण तारतम्यता कही है ।।१।।

आभास— नन्वेवमेव स्वभाव इति चेत् तत्राह **एतद्वेदितुमिच्छाम** इति ।

आभासार्थ—यदि दोनों (शिव और हरि के स्वभाव इसी प्रकार के ही हैं तो, मैं इसको जानना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों ?

श्लोक—**एतद्वेदितुमिच्छामः संदेहोऽत्र महान्हि नः ।**
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोर्विरुद्धा भजतां गतिः ।।२।।

श्लोकार्थ—परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले प्रभुओं[३] के भजन करने वालों को फल भी विरुद्ध मिलता है। जैसे धनादि देने वाले शिव[४] के भक्तों को धनादि फल मिलता है और धनादि न देने वाले[५] हरि के भक्तों को धनादि भोग नहीं मिलता है, इस विषय में हमको महान् संदेह है, अतः इसको जानना चाहता हूँ कि यह क्यों?।।२।।

सुबोधिनी एतदत्रत्यं संदेहनिवर्तकं यतोऽत्र **महान् संदेहः** । **हि** युक्तश्चायमर्थः । भक्तत्वाद्-भजनीयगुणसदेहो वारणीय इति । **नोऽस्माकं** सर्वेषामेव । यतोत्र कौतुकाविष्टानामपि संदेह-निवृत्त्यर्थं प्रयत्न इति ज्ञापयितुमाह **विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोरिति** । एको लक्ष्म्या सहितः । अपरो विहीनः । तत्सेवकस्तु लक्ष्मीरहितः सहितश्चेति । यस्य हि यद्रोचते स स्वभक्ताय तत् प्रयच्छति, प्रकृते तु तदभाव इत्यर्थः । अत्र संदिग्धः प्रष्टव्यः शिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते कथं प्रयच्छतीत्यत्र कि विषया राज्यादय उत्कृष्टाः आहोस्विदपकृष्टा इति । उत्कृष्टश्चेच्छिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते, अपकृष्टाश्चेत् कथं प्रयच्छतीति । तत्रोत्तरमपकृष्टा एवेति । अतस्यस्य भोगाभावः समर्थितः । तादृशं कथं ददातीति चेद् उपासकानामेव दोषादिति वक्तु ये धनार्थं शिवमुपासते ते साहंकाराः सन्तः अहकाराभिमानिनमेव शिव मुपासते । ननु शैव-तन्त्रसिद्धं सदाशिवं वा साधारणत्व ज् ज्ञाना-धिकाराभावाच्च ।।२।।

व्याख्यार्थ—इस विषय में जो महान् संदेह है, उसका निवारण करना चाहता हूं, 'हि' पद से कहते हैं कि यह अर्थ उचित है, भक्त होने से भजनीय स्वरूप के गुण में जो संदेह हो, वह निवारण करना चाहिए, 'नः' बहुवचन देने का तात्पर्य है कि केवल मुझे संशय नहीं है सर्व सेवकों को संदेह है अतः अवश्य निवारणीय है, क्योंकि यहां अर्थात् इस विषय में जो कौतुकाविष्ट है उनको भी इच्छा है, कि संदेह की निवृत्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह जताने के लिए कहा कि विरुद्ध शीलयोः प्रभ्वोः' दोनों समर्थ होते हुए भी विरुद्ध शील वाले हैं, एक 'हरि' लक्ष्मी सहित और दूसरा 'शिव' लक्ष्मी रहित है, उनके सेवक भी विरुद्ध फल वाले होते हैं, जैसे लक्ष्मी विहीन शिव के भक्त, लक्ष्मीवान् होते हैं और लक्ष्मी सहित हरि के भक्त लक्ष्मी विहीन होते हैं, जिसको जो वस्तु पसंद आती है वह वस्तु, अपने भक्त को देता है, यहां तो उसका अभाव है ।

यहां संदेह करने वाले से पूछना चाहिए कि शिवजी आप स्वयं क्यों नही धनादि से भोग भोगते है ? क्यों भक्तों को दे देते हैं ? ये राज्यादि कैसे हैं, उत्तम सुखद ता हैं अथवा अधम दुःख दाता हैं ? यदि उत्तम हैं तो आप क्यों नहीं भोगते हैं ? यदि अधम हैं तो अपने भक्तों को क्यों देते हैं ? इसका उत्तर है कि ये भोग अपकृष्ट अर्थात् अधम हैं, इसलिए आप नहीं भोगते हैं, फिर भक्तों को क्यों देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि उपासकों का ही यह दोष है, वे यह ही मांगते हैं कारण कि वे उपासक अहङ्कारी हैं, अपने अहङ्कार को बढ़ाने के लिए हो शिवजी से धनादि प्राप्त कर अहङ्कार का पोषण करते हैं, इसलिए अहङ्काराभिमानी तामसगुणाविष्ट शिव की ही उपासना करते हैं न कि, शैव तन्त्र सिद्ध सदाशिव की उपासना करते हैं, कारण कि, साधारण और ज्ञानाधिकार के अभाव वाले हैं ।।२।।

आभास—अतस्तान् प्रति शिवस्तादृशमेवेति तन्निरूपयति **शिवः शक्तियुत** इति ।

आभासार्थ—इस कारण से ऐसे अहङ्कारी भक्तों के लिए शिव भी वैसे होकर वैसा फल देते हैं जिसका निरूपण 'शिवः शक्तियुतः' श्लोक में करते हैं—

१- शिव इतना धन देते हैं जिससे शिव भक्त दूसरों का पालन पोषण कर सकते हैं और अपना व्यवहार भी अच्छी तरह चलाते हैं। २- एकत्व ३- समर्थ वालों ४- लक्ष्मी रहित

५- लक्ष्मी सहित

श्लोक—श्रीशुक उवाच-शिवः शक्तियुतः शश्वन्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।।३।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि शिव निरन्तर शक्ति को अपने पास रखते हैं एवं सात्त्विक, राजस तथा तामस अहङ्काराविष्ट होने से त्रिलिङ्ग कहलाते हैं और तीन गुणों के कारण तीन प्रकार के हैं ।।३।।

सुबोधिनी—अहंकाराभिमानेऽपि शिवस्य तादृशत्वे हेतुः **शक्तियुत** इति । 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' इति वाक्यात् । प्रलयकर्त्रीं शक्ति यदि शिवः शान्तात्मा क्षणमपि परित्यजेत् तदा सा प्रलयं कुर्यात् । यदि वा कण्ठे कालकूटं न स्थापयेत् तदा सर्ववस्तूनां दोषस्याधिदैविकं रूपमिति तत्परित्यागे सर्ववस्तुषु दोषाद्भमे सर्वोऽप्यन्नादिभक्षणेन म्रियेत । यदि वा सर्पान्न धारयेत् तदा सर्व एव पुरुषाः कुण्डलिनीव्याप्ताः तयैव हताः स्युः । तदाधिदैविकान्निरुद्धच स्थापयतीति न कुण्डलिनी कमपि हन्तीति सूचितम् । एवमग्नेर्धारणं अन्यथा सर्वं दहेदिति । एवं चंद्रमसोऽपि । अन्यथा सर्वं क्षीणं कुर्यादिति । वस्त्राणां सर्वदेवतामयत्वात् न बाधकत्वमिति न तद्धारणम् । शार्दूलचर्म तु 'मृत्योर्वा एष वर्णो यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः प्राणिनां मृत्युनिवारणार्थं बिभर्ति गङ्गां च बिभर्ति । सापि स्पर्शमात्रेणैव पूर्वदेहं दोषरूपं निवर्त्य भगवदीयं देहं संपादयति । जटाश्च बिभर्ति । अन्यथा वायुना हृता मेघा गच्छेयुरेव न त्वागत्य वृष्टिं कुर्युः । एवं सर्वेषां प्रयोजनानि शैवतन्त्रे निरुपितानि निर्दोषपूर्णगुणविग्रहनिरूपणप्रस्तावे । एवं परमकृपालुरपि उपासकानुरोधात् **त्रिलिङ्गो** जातः । ततो **गुणैरपि** सत्त्वरजस्तमोभिः संवेष्टितः । ननु तस्य त्रिलिङ्गत्वे वा गुणवेष्टनत्वे वा को हेतुरिति चेत् तत्राह **वैकारिकस्तैजसश्चेति** । **वैकारिकः** सात्त्विकः । **तैजसो** राजसः । **अह**महंकारस्तदधिष्ठाता जात इति तस्य त्रिलिङ्गत्वाद **गुणसंवृतत्वाच्च** स्वयं चापि तथा जातः ।।३।।

व्याख्यार्थ - शिवजी में अहङ्कार का अभिमान मात्र है, न कि जीव की तरह अहङ्काराध्यास है, और शिवजी अहङ्कारी भक्तों को उनके योग्य फल देने के लिए तथा जगत् हितार्थ 'शक्ति' को सदैव रखते हैं, जैसाकि भागवत में कहा है 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' भगवान् शिव और शक्ति के साथ फिरते हैं, इस प्रलय करने वाली शक्ति को शान्तात्मा शिव क्षण मात्र भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि यदि छोड़ें तो यह शक्ति क्षण में समग्र जगत् को प्रलय कर दे, और शिवजी यदि कण्ठ में कालकूट विष को धारण न करें तो सब जो भक्ष्य पदार्थ अन्न आदि हैं, उनके खाने से मृत्यु हो जावे, क्योंकि सर्व वस्तुओं में जो मृत्यु कारक दोष है उसका आधिदैविक स्वरूप कालकूट है, उसको कण्ठ में धारण कर लेने से सर्व वस्तुओं में से दोषों का अभाव हो गया है, जिससे अन्नादि भक्ष्य पदार्थ निर्दोष होकर सबको जीवन देते हैं, यदि शिवजी उसका त्याग करें तो सर्व वस्तुओं में फिर वह दोष पैदा हो जावे, जिससे अन्नादि भक्षण द्वारा सर्व की मृत्यु हो जावे ।

यदि महादेव सर्पों को धारण न करें तो कुण्डलिनी से व्याप्त पुरुष, उससे ही मारे जावें, इस कारण से कुण्डलिनी के आधिदैविक स्वरूप सर्पों का निरोधकर कण्ठ में धारण कर लिए हैं, इसलिए कुण्डलिनी किसी को भी नहीं मार सकती है, इससे यों सूचित किया है ।

आप अग्नि को धारण कर सब को दाह से बचा रहे हैं, यदि अग्नि को धारण न करें तो सबको अग्नि भस्म कर डाले ।

आप चन्द्रमा को धारण कर सबको क्षीण होने से बचाते हैं, यदि चन्द्रमा को धारण न करते तो चन्द्रमा सबको अपने समान क्षीण कर देता ।

आप वस्त्रों को धारण न कर नग्न रहते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि वस्त्र देव रूप हैं, सबकी रक्षा करते हैं, किसी के बाधक नहीं, मृत्योवा एष वर्णो यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः' 'व्याघ्र चर्म मृत्यु का वर्ण है' यों श्रुति में कहा है अतः मनुष्यों की मृत्यु को हटाने के लिए आप व्याघ्र चर्म धारण करते हैं ।

आपने गङ्गा को धारण इसलिए किया है कि, अधिकारियों[1] को ही देह निर्दोष होवे, कारण कि गङ्गाजी स्पर्श मात्र से ही दोष रूप देह को बदलाकर भगवदीय देह बना देती है, यदि धारण न करते तो सब से स्पर्श होता सब की देह भगवदीय हो जाती तो अधिकारीपन का नियम लोप हो जाता ।

आप जटाओं को धारण करते हैं, बादल केश रूप हैं, जैसे कहा है कि 'अम्बुवाहाः केशाः' यदि धारण न करते तो बादलों को वायु दूर दूर ले जाती यहां लौटकर न आते जिससे यहां वर्षा ही न पड़ती, अतः आपने जटा धारण भी आवश्यक समझा ।

इसी तरह भगवान् शङ्कर ने जो २ पदार्थ धारण किए हैं उनका प्रयोजन शिव तन्त्र में कहा है, वहां शिवजी का निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह सिद्ध किया है, इस प्रकार के होते हुए भी आप परम कृपालु होने से भक्तों के आग्रह से त्रिलिङ्ग हुए हैं, इससे ही सत्व, रज और तमोगुण से युक्त हुए हैं, उनके[2] त्रिलिङ्ग होने वा गुणों से वेष्टित होने का क्या हेतु है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैकारिकस्तैजसश्चेति' अहङ्कार सात्विक, राजस और तामस होने से त्रिविध है अतः आप भी अहङ्काराभिमानी होने से त्रिलिङ्ग हुए अतः गुणों से युक्त होकर वैसे हो गए ।।३ ।

आभास—ततः सहिता शक्तिः पुरुषसम्बन्धात् प्रलयकर्तृत्वं परित्यज्य सृष्टिं कृतवतीत्याह **ततो विकारा अभवन्निति ।**

आभासार्थ—शिवजी के साथ रही हुई शक्ति पुरुष[3] के सम्बन्ध से प्रलय करने का कार्य त्याग कर सृष्टि करने लगी, यह 'ततो विकारा' श्लोक वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ततो विकारा अभवन्षोडशामीषु कञ्चन ।**
उपाधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ।।४।।

१- भगवदीयों, २- महादेव के, ३- श्रीशिवजी के,

श्लोकार्थ—उससे सोलह विकार (दस इन्द्रियाँ,[1] एक मन[2] और पाँच भूत[3]) हुए इनमें से किसी का भी आश्रय करने वाला सर्व विभूतियों का फल भोगता है ।।४।।

सुबोधिनी—भूतानीन्द्रियाणि च **विकाराः षोडश**, महादेवः षोडशरूपो जात इत्यर्थः । 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेः । ततः **अमीषु** भगवन्मूर्तिषु **कंचनापि** महादेवं **उपाधावन् सर्वासामेव** विभूतीनां **गतिमश्नुते** । यतः स विभूतिपतिः ऐश्वर्याण्यक्षयरूपाणि कृत्वा बिभर्तीति । अनेन तस्य विभूत्यभावो निराकृतः ।।४।।

व्याख्यार्थ—पांच महाभूत मन सहित ११ इन्द्रियां ये षोडश विकार हैं, अर्थात् इसी तरह महादेव ने १६ रूप धारण किए, जैसा श्रुति में 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' कहा है कि पुरुष १६ कला वाला है, इस कारण इन १६ भगवान् की मूर्तियों में से किसी भी मूर्त्ति का आश्रय करता है वह सब मूर्त्तियों का फल पाता है, क्योंकि वह महादेव इन १६ विभूतियों का स्वामी है, अतः आप ऐश्वर्यों को अक्षय रूप कर धारण करते हैं, यों कहकर महादेव विभूति रूप है, इस मत का निराकरण किया है ।४।

आभास—एवं महादेवे दोषं निराकृत्य भक्तानुरोधेन विकारजातं प्रयच्छतीति निरूपितम् भगवति च वादी प्रष्टव्यः । किं लक्ष्मीरूपा विषया उत्तमा अधमा वेति । उत्तमत्वे कथं न प्रयच्छति । अधमत्वे कथं स्वयं भुङ्क्त इति संदेहः । तत्र हिशब्दः पूर्वपक्षोक्तं प्रकारं वारयति । लक्ष्मीरूपविषया उत्तमाः । अतो भगवान् बिभर्तीति युक्तम् । दोषरूपपक्षस्थापनार्थं भगवता शिवरूपमेव कृतमिति नात्र पुनः तत्पूर्वपक्षाः समायान्ति । तत्र भक्तेभ्यः कथं न प्रयच्छतीत्याशङ्कायामाह **हरिरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव में दोष का निराकरण कर, भक्तों के आग्रह के कारण ही विकारोत्पन्न फल देते हैं, यों निरूपण किया ।

भगवान् के विषय में शङ्का करने वाले वादी से पूछना चाहिए कि लक्ष्मी रूप विषय उत्तम है, या अधम ? यदि उत्तम है तो उपासकों को क्यों नहीं देते हैं ? यदि अधम है तो आप क्यों धारण करते हैं ? इस विषय में पहले कहे हुए प्रकार का 'हि' पद से निवारण करते हैं ।

लक्ष्मी रूप विषय अच्छे हैं अतः भगवान् धारण करते हैं यह उचित ही है ।

लक्ष्मी के विषय, दोषरूप हैं इस पक्ष की स्थापना करने के लिए भगवान् ने शिव रूप धारण किया है इसलिए यहां बिर पूर्व पक्ष नहीं आ सकता है, वहाँ प्रश्न होता है कि यदि लक्ष्मी का विषय उत्तम है तो भक्तों को क्यों नहीं देते हैं ? इस शंका का उत्तर देने के लिए 'हरिर्हि' श्लोक कहा है—

१- राजस अहङ्कार से दश इन्द्रियां उत्पन्न हुई, २- सात्त्विक अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ,
३- तामस अहङ्कार से पाँच भूत (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि) उत्पन्न हुए ।

श्लोक—हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ।।५।।

श्लोकार्थ—हरि ही निर्गुण, प्रकृति से पर, साक्षात् पुरुष है, सबका सब कुछ देख रहे हैं, निकट भी देख रहे हैं, उनका भजन करने वाला निर्गुण होता है ।।५।।

सुबोधिनी—प्रयच्छत्येव न तु दुःखरूपान्। यथा हरिर्गजेन्द्राय पूर्वावस्थास्थितदेहभार्यैश्वर्यादिकं त्याजयित्वा परमानन्दरूपान् तानेव दत्तवान् । **हि** युक्तश्चायमर्थः । ननु शिववत् कथं न प्रयच्छतीति चेत् तत्राह **निर्गुण** इति । गुणार्थं तदेव रूप जातमिति देनैव रूपेण तत्कार्यं **सिन्नचतीति** स्वयं गुणातीतः स्थितः । अत्र रूपे गुणग्रहणे प्रयोजनं नास्तीत्याह **साक्षात्पुरुष** इति । अयं सर्वेषामुपासकानामात्मा अतस्तद्धितमेव विचारयति न तूपासनानुरोधं करोति । किंच अस्य तादृशी कापि शक्तिर्नास्ति यदनुरोधात्तां परिगृह्य सगुणो भवेत् । ननु पुरुषत्वात्प्रकृतिरायातीति चेदत आह **प्रकृतेः पर** इति । **ननु** तथापि भक्तक्लेशं दृष्ट्वा कथं न संपादयतीति **चेत्** तत्राह **स सर्वदृगिति** । स प्रसिद्धः आत्मा हितकारी । सर्वस्यापि सर्वं पश्यति । किंच । अन्तर्यामित्वान्निकटेऽपि स्थितः पश्यति । ततो यदैव यद्विना कार्यं न भवतीति जानाति तदैव तत्प्रयच्छतीति भावः । अत एवैतादृशं परमविचक्षणं **भजन्** स्वयमपि **निर्गुण** एव **भवेद्** गुणप्रयोजनाभावात् । भगवांश्च तेनैव रूपेण प्रकट इति न भक्तोपेक्षते नापि भगवान् प्रयच्छतीत्यर्थः ।५।।

व्याख्यार्थ—हरि अपने भक्तों को ऐश्वर्यादि देते हैं किन्तु दुःख रूप ऐश्वर्यादि नहीं देते हैं जैसे गजेन्द्र को, पूर्वावस्था वाले देह, स्त्री और ऐश्वर्यादि जो दुःखद थे उनका त्याग कराकर परम आनन्द रूप ऐश्वर्यादि दिए. 'ही' पद से यह सूचित किया है कि यों करना उचित ही है. शिव की तरह क्यों नहीं देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि आप 'निर्गुण' हैं, गुण के लिए वह ही (शिवरूप) धारण किया है, उस रूप से ही वह कार्य सिद्ध करते हैं, इसलिए ही आप गुणातीत होकर विराजते हैं, इस स्वरूप में गुणों के ग्रहण करने का कोई प्रयोजन हैं, इसलिए कहा है कि, 'साक्षात् पुरुषः' साक्षात् पुरुष हैं अतः सब उपासकों की आत्मा है. जिससे उनका हित ही विचारते हैं उपासकों के अनुरोध से नहीं देते हैं, जिसके देने से भक्तों का अहित न होवे वह पदार्थ देते हैं ।

इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है. जिसके वश होकर गुणों को ग्रहण कर सगुण होवे, हरि पुरुष है, अतः प्रकृति स्त्री होने से स्वतः इनके पास आती है, जिसके उत्तर में कहा कि 'प्रकृतेः पर' प्रकृति से पर हैं, यों होते भी भक्तों के क्लेशों को देख कर क्यों नहीं गुणों को ग्रहण करते है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'स सर्वदृक्' 'स' पद से यह सूचित किया है कि वह आत्मा का हित करने वाले हैं यों प्रसिद्ध है, सर्व का, सब दुःख सुख सब देख रहे हैं इस कारण से जब समझते हैं कि इसके बिना उपासक का का कार्य सिद्ध नहीं होगा, तब ही उनको वह देते हैं, इस कारण से ही ऐसे परम विचक्षण का जो भजन करता है वह स्वयं भी निर्गुण हो जाता है, कारण कि उसका गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है ।

भगवान् उस ही (निर्गुण ही) रूप से प्रकटे हैं, इसलिए भक्त अपेक्षा नहीं करता है और भगवान् भी नहीं देते हैं ।।५।।

आभास—प्रत्युत दोषरूपान् विषयान् भक्तेषु पश्यन्नपहरतीति वक्तुमुपाख्यानमाह **निवृत्तेष्वश्वमेधेष्विति** ।

आभासार्थ - प्रत्युत (बलिक) यदि भक्तों में कोई दोष देखते हैं तो उसका अपहरण कर लेते हैं, यों कहने के लिए निवृत्तेष्वश्वमेधेषु' श्लोक से उपाख्यान कहते हैं—

श्लोक—**निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।**
शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ।।६।।
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले ।।७।।

श्लोकार्थ—अश्वमेधों के पूर्ण हो जाने के अनन्तर तुम्हारे पितामह राजा युधिष्ठर ने भगवद्धर्म सुनते हुए यह सुना कि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति नहीं बढ़ाते हैं, जिसमें सन्देह हो जाने से यह अर्थ, अच्युत से पूछने लगा ।।६।।

उस पर प्रसन्न हुए वे प्रभु भगवान् मनुष्यों के निःश्रेयस के लिए जिन्होंने यदुकुल में अवतार लिया है सुनने की इच्छा वाले उसे कहने लगे ।।७।।

सुबोधिनी—अश्वमेधत्रयं कृत्वा पश्चादन्ते धर्मश्रवणस्य विहितत्वाद्**भगवद्धर्मान् शृण्वन्** भगवान् भक्तानां संपदो न प्रवर्धयतीति तत्र संदिहानः इममेवार्थं **अच्युतमपृच्छत्** । **स च भगवांस्तत्रैव** स्थितः स्वधर्मान् शृणोतीति **प्रीतः** सन् गुह्यमपि सिद्धान्तं **शुश्रुषवे** प्रभुत्वात्तन्निःशङ्कमाह । ननु व्यासादयोऽपि भगवद्रूपास्तिठन्तोति । अतः कथमेवमुक्तवान् इत्याशङ्क्याह **नृणां निःश्रेयसार्थायेति** । व्यासस्यापि शास्त्रद्वारा निःश्रेयससाधकत्वमाशङ्क्य **योऽवतीर्ण** इति । रामव्यावृत्त्यर्थं गूर्वपदम् ।।६।।७।।

व्याख्यार्थ—शास्त्राज्ञा है कि तीन अश्वमेघ पूर्ण करने के बाद भगवद्धर्मों का श्रवण करे, उसी आज्ञा का पालन करते हुए राजा युधिष्ठिर भगवद्धर्म श्रवण करता था, जब सुना , कि भगवान् भक्तों की सम्पदाओं को बढाते नहीं है, तब संशय ग्रस्त हो, इसही विषय का संशय निराकरण कराने के लिए अच्युत से पूछने लगा ।

भगवान् तो वहां ही स्थिति थे, देख रहे थे कि यह भगवद्धर्मों का श्रवण कर रहा है अतः उस पर प्रसन्न थे, जिससे गुह्य सिद्धान्त भी उस सुनने वाले को निःशङ्क होकर कहने लगे, कारण कि, आप प्रभु, अर्थात् सर्व समर्थ हैं, जब वहां भगवद्रूप उपदेश करने वाले व्यासादि भी उपस्थित थे, तब आप कैसे इस तरह कहने लगे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिए कहा कि 'नृणां निःश्रेयसार्थाय' आप मनुष्यों के निःश्रेयसार्थ यदुकुल में प्रकट हुए हैं, अतः आप कहने लगे 'योऽवतीर्ण' 'यः' पद से यह सूचित किया है कि भक्तों को मोक्ष देने के लिए कृष्ण ही प्रकटे हैं न कि बलरामजी ।।६-७।।

है, इस बात को हम जानते हैं कि ईश्वर ने आप पर स्नेह जाल डाल दिया है ।।६२।।

सुबोधिनी - **सत्तमैर्भवद्भिरस्मासु मैत्री** या **अर्पिता** सा अज्ञेषु **अप्रतिकल्पा** प्रतिकल्परहिता । प्रतिकल्पः प्रत्युपकारः । अतः अफला । **वा** शब्दः अनादरे । सफला वा । अफला सफला वा भवतु परं न निवर्तेत ।।६२।।

व्याख्यार्थ—आप सत्पुरुषों ने जो हम अज्ञों (नासमझों) में मैत्री स्थापित की है, उसका हम बदला दे नहीं सकते हैं, इस कारण से वह निष्फल है । 'वा' शब्द अनादर में है, यह आपकी की हुई मैत्री सफल हो चाहे असफल हो, किन्तु छूटती नहीं है ।।६२।।

आभास—एवं प्रत्युपकाराभावं मैत्रीं च स्थापयित्वाह **प्रागकल्पास्तु कुशलमिति** ।

आभासार्थ –'प्रागकल्पास्तु' श्लोक में बदला न मिलना और मैत्री की स्थापना दोनों कहते हैं ।

श्लोक—**प्रागकल्पास्तु कुशलं भ्रातर्वो नाचरामहि ।**
अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ।।६३।।

श्लोकार्थ—हे भाई ! पहले तो हम असमर्थ थे, जिससे आपकी की हुई मैत्री व उपकार का बदला न दे सके, किन्तु अब लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए हैं, जिससे सामने स्थित उपकारी सत्पुरुष को मानों देखते ही नहीं हैं ।।६३।।

सुबोधिनी - क्रियाप्रतिकल्पाभावेऽपि स्वशक्त्यनुसारेण प्रत्युपकारः कर्तव्यः तस्याप्यकरणे हेतुरुच्यते पूर्वं यदा कंसो न हतः द्वारकायां वा न गतं तदा वयमेवाकल्पाः । तत एव हे **भ्रातः वः कुशलं नाचरामहि** । संबोधनात्कुशलावश्यकत्वं बोधितम् । **अधुना** पुनः प्राप्तराज्याः कल्पा अपि **श्रीमदेनैवान्धाः** सन्तः **पुरः सतो**ऽपि विद्यमानान् न **पश्यामः** । धर्मिदर्शनानन्तरं हि तत्र प्रतिकर्तव्यसंभावना ।।६३।।

व्याख्यार्थ--मैत्री क्रिया का पूरा बदला न दे सकते, तो थोड़ा भी देना चाहिए था, जैसी भी शक्ति होवे थोड़ा सा भी न कर सकने में कारण देते हैं कि तब न कंस मरा था और न द्वारका गए थे । तब हम सर्वथा असमर्थ थे, अतः कुछ न कर सके । 'हे भाई' सम्बोधन देने का आशय है कि हमको प्रत्युपकार करना ही चाहिए, यों करना आवश्यक है, 'अस्तु' तब नहीं किया, अब तो कंस मर गया, सब विघ्न टले, अब तो करो । जिसके उत्तर में कहते हैं कि राज्य मिल गया है, उपकार का बदला देने में समर्थ है, यह सत्य है, किन्तु लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए हैं, उपकार करने वाले सत्पुरुष सामने स्थित हैं, तो भी मानों उनको देखते ही नहीं हैं, अतः अब भी नहीं कर सकते हैं । धर्मों के देखने के बाद ही वहाँ बदले की सम्भावना होगी ।।६३।।

आभास—तर्हि किं युक्तमित्याकाङ्क्षायां निर्णयमाह **मा राज्यश्रीरभूदिति** ।

आभासार्थ—तो उचित क्या है ? इस आकांक्षा का निर्णय 'मा राज्यश्रीः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।**
सुजनानुत बन्धूंश्च न पश्यति ययाऽन्धदृक् ।।६४।।

श्लोकार्थ—हे मानद ! श्रेय की कामना वाले पुरुषों को राज्य और श्री नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जैसे अन्धा सत्पुरुषों को और बान्धवों को नहीं देख सकता है, वैसे वह भी नहीं देख सकता है ।।६४।।

सुबोधिनी—यद्यप्युभयत्रापि प्रतिकर्तव्यता नास्ति तथाप्यकल्पावस्थैव समीचीना ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्योः ज्ञानशक्तिसहितस्यैव सद्भावत्वात् क्रियाशक्तिस्तु संपत्तौ विद्यमानापि ज्ञानशक्त्यभावादप्रयोजिका । अत एवमन्तरं वर्तते इति **पुंसः श्रेयस्कामस्य राज्यश्रीर्माभूत्** । मान ददातीति **मानदः** । अनेन त्वं सर्वथास्माकं मानमेव प्रयच्छसि को दोषः राज्यस्येति चेत् **सुजनानुत बन्धूंश्चे**ति । **यया** श्रिया कृत्वा **अन्धा** दृष्टिर्यस्य गतदृष्टिरित्यर्थः । सत्पुरुषान् **बन्धूंश्च न पश्यति** ।।६४।।

व्याख्यार्थ—दरिद्रता (गरीबी) और राज्यश्री की प्राप्ति दोनों अवस्थाओं में बदला नहीं चुकाया जा सकता है । फिर भी राज्यश्री से दरिद्रता अच्छी है, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनों की आवश्यकता है, किन्तु वे तब अच्छी हितकारिणी होती हैं, जब उनके साथ ज्ञान-शक्ति भी होवे, कारण कि क्रिया-शक्ति सम्पत्ति के विद्यमान होने की अवस्था में ज्ञान-शक्ति के साथ न होने से व्यर्थ है, जिसका भावार्थ है कि यदि सम्पत्ति के होने पर कार्य (बदला देने) करने की शक्ति है, किन्तु ज्ञान के अभावों में वह शक्ति कुछ कर ही नहीं सकती है ।

अतः इस प्रकार अन्तर होता है, जिससे श्रेय चाहने वाले पुरुष को राज्यश्री न होवे, तो अच्छा है । मान देने वाले को 'मानद' कहा जाता है, आप हमको सदैव मान देते हैं, राज्य का क्या दोष ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि जिस राज्यश्री से पुरुष अन्धा हो जाता है, वह राज्यश्री नहीं चाहिए, कारण कि इससे वह अपने सत्पुरुष और बान्धवों को नहीं देख सकता है ।।६४।।

आभास—एवं स्वदोषख्यापनं नन्दगुणप्रकटीकरणं च कृत्वा स्नेहेन रोदनं कृतवानित्याह **एवमिति** ।

आभासार्थ—इसी तरह अपने दोष प्रकट कर और नन्दजी के गुण प्रकट किए, बाद में स्नेह बढ़ आने से रोने लगे, जिसका वर्णन 'एवं' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।**
ररोद तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्नश्रुविलोचनः ।।६५।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इसी तरह स्नेह से शिथिल चित्त वाले वसुदेवजी के नेत्रों में आँसू आ गए, श्री नन्दरायजी के उपकार स्मरण करते हुए रोने लगे ।।६५।।

सुबोधिनी—रोदनमुक्तार्थस्य स्थापकम् । अन्यथा मुखत एव वदतीत्यपि शङ्का स्यात् । **सौहृदेन शैथिल्यं** यस्य **चित्तस्य** तादृशं चित्तं यस्य । यतोयमानक**दुन्दुभिः** अतिसुबुद्धिः कंसाद्भगवन्तं रक्षितवान् । नन्दात्स्वगृहनयने कः प्रयास इति भावः । **तत्कृतां मैत्रीं** भगवत्परिपालनरूपाम् । **अश्रूणि विलोचनयोर्यस्ये**ति दुःखस्य सहजत्वं निरूपितम् ।।६५।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी ने जो रोदन किया, उसका आशय यह था कि मैंने जो कहा है, वह केवल मुख से दिखाने के लिए नहीं कहा है, किन्तु मानसिक भाव से कहा है । यदि रोते नहीं, तो यों समझा जाता कि यह कहना केवल दिखावा है, इस शङ्का को रोने से मिटा दिया । वसुदेवजी का चित्त सौहार्द्र से शिथिल हो गया था; क्योंकि बहुत सुन्दर बुद्धि वाले हैं, तब ही कंस से भगवान् की रक्षा की है, नन्द से अपने घर में लाने में कौनसा प्रयास है, यों कहने का भाव है कि नन्दजी ने भगवान् के पालन रूप अनुग्रह को किया है, यह ही मैत्री है, जिससे आँसूओं से नेत्रों में जल भर गया, इससे वसुदेवजी को नन्दजी के उपकार का बदला न चुका सकने का सहज दुःख है, यह निरूपण किया ।।६५।।

श्लोक—**नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।**
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन्यदुभिर्मानितोऽवसत् ।।६६।।

श्लोकार्थ—नन्दरायजी यादवों से मान पाकर, अपने मित्र वसुदेवजी को प्रसन्न करते हुए, राम-कृष्ण के प्रेम से आज-कल रवाना होऊँगा, यों करते हुए, तीन महीनों तक वहीं रहे ।।६६।।

सुबोधिनी—एवं स्नेहानुबन्धं प्राप्य **नन्दः सख्युः** प्रियकर्ता **गोविन्दरामयोः प्रेम्णा अद्य** गमिष्यामि **श्वो** गमिष्यामीत्येवं वदन् **त्रीन् मासान्** अवात्सीत् । प्रत्यहमेव **यदुभिर्मानितः** मासत्रयं स्वभावत एव स्थितः । ततोद्य **श्व** इति वदन् मासत्रयम् ।।६६।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार मित्र का प्रिय करने वाले नन्दरायजी स्नेह पाश में फँस जाने के कारण श्रीकृष्ण और राम के प्रेम से आज जाऊँगा, कल जाऊँगा; यों कहते हुए, तीन मास वहीं रहे, नित्य प्रति ही यादवों से सत्कार पाते थे, अतः तीन मास स्वभाव से ही रहे, इसलिए आज-कल कहते हुए तीन मास पूरे हो गए ।।६६।।

श्लोक—**ततः कामैः पूर्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः ।**
परार्ध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ।।६७।।

श्लोकार्थ—फिर अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र और अनेक प्रकार के सब सामान

ले, मनवाञ्छित कामना को पूर्ण कर, नन्दरायजी गोप और बान्धवों को सङ्ग ले (नीचे श्लोक से सम्बन्ध है) ।।६७।।

सुबोधिनी—एवं माघादाषाढपर्यन्तं स्थित्वा ततः **कामैर्**नानाभिलषितैः भगवता **पूर्यमाणः सव्रजः** गोपालसहितो बान्धवसहितश्च। काम्यपदार्थान् गणयति **परार्ध्येति**। अमूल्यान्याभरणादीनि, **क्षौमाणि** पट्टवस्त्राणि, **अनर्घ्यपरिच्छदाः** दिव्यगृहोपकरणानि ।।६७।।

व्याख्यार्थ—यों माघ से आषाढ़ पर्यन्त रहकर पश्चात् भगवान् से अनेक प्रकार की कामनाएँ पूर्ण कर, गोप और बान्धवों के साथ काम्य[1] पदार्थों की गणना करते हैं—अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र, सुन्दर गृह की सामग्री ।।६७।।

आभास—एतानि प्रत्येकं बहुभिर्दीयन्त इति तान् गणयति **वसुदेवेति**।

आभासार्थ - उपरोक्त सामग्री हर एक को बहुतों ने दी, उनकी गणना 'वसुदेवोग्र' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः।**
दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ।।६८।।

श्लोकार्थ—वसुदेवजी, उग्रसेनजी, कृष्ण, उद्धवजी और बलरामजी आदि यादव से दिया हुआ पारिबर्ह[2] ले रवाना हुए ।।६८।।

सुबोधिनी—पञ्च मुख्यतया गणिताः। **उग्रसेनो** राजा। वसुदेववत्सोपि भगवता मोचित इति। **उद्धवोपि** बहुकालं तद्गृहे स्थित इति। **बलो** बलभद्रः आदिशब्देन देवक्यादयोपि गृह्यन्ते। एतै**र्दत्तं पारिबर्हमादाय** दूरे समागत्य **यापितः** सन् **ययौ** ततो निर्गतः ।।६८।।

व्याख्यार्थ—मुख्य रूप से पाँच गिने। उग्रसेन राजा वसुदेवजी की तरह उनको भी भगवान् ने जेल से छुड़ाया था, उद्धवजी भी बहुत काल से उनके घर में रहे थे। 'बल' शब्द से बलभद्र और 'आदि' शब्द से देवकी इत्यादि (वगैरह) लेनी चाहिए, इन्हों से दी हुई पहरावनियाँ लेकर दूर जाकर जिसकी जो थी, वह बाँट कर ले ली, पश्चात् वहाँ से रवाना हुए ।।६८।।

आभास—नन्वयं सर्वं गृहीत्वैव गच्छति न किञ्चित्स्वयं दत्तवानित्याशङ्क्याह **नन्दो गोप्यश्चे**ति।

आभासार्थ—ये नन्दरायजी सब लेकर ही जा रहे हैं, आपने तो कुछ भी नहीं दिया, यों शङ्का कर 'नन्दो गोप्यश्च' श्लोक में उत्तर देते हैं।

---

[1] जो अभिलषित पदार्थ मिले, उनकी

[2] पहरावनी

श्लोक—**नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्दचरणाम्बुजे।**
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुमशक्ता मथुरां ययुः ।।६९।।

श्लोकार्थ—नन्द और गोपियों ने तथा गोपों ने इन दोनों ने समृद्धि के लिए अपना मन भगवान् के चरणों में धर दिया, वहाँ अति पुष्ट हो जाने से फिर निकलने में समर्थ न हुए, अतः माथुर देशों को ही गए, मन के निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है, नन्दादिकों का मन तो भगवान् में ही है, अतः नन्द आदि का ही सबसे विशेष द्रव्य यहाँ पड़ा हुआ रह गया है ।।६९।।

सुबोधिनी—**नन्दः गोप्यश्चै**का कोटिः। **गोपास्त्वपराः**। उभयेपि **गोविन्दचरणाम्बुजे** समृद्ध्यर्थं **क्षिप्तं मनः** अतिपुष्टत्वात् **पुनर्हर्तुमशक्ताः**। माथुरानेव देशान् ययुः। मनोनिमित्तं हि सर्वं दीयते नन्दादीनां तु मनो भगवत्येव। अतो नन्दादीनामेव बहुद्रव्यमत्र स्थितमित्यर्थः६९

व्याख्यार्थ—नन्द तथा गोपियाँ एक पंक्ति के हैं, गोप दूसरी पंक्ति के हैं। गोविन्द भगवान् के दोनों चरण कमलों में समृद्ध्यर्थ लगाए हुए मन को वहाँ से हटा लेने में असमर्थ थे; क्योंकि चित्त उनमें बहुत पुष्ट (मजबूत, पक्का) हो गया है. अतः मथुरा के सम्बन्ध (निकट) वाले देश को गए, मन के निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है। नन्दादि का मन तो भगवान् में ही लगा हुआ है, अतः नन्दादिकों का ही बहुत धन यहाँ धरा हुआ है, यह आशय है ।।६९।।

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **बन्धुषु प्रतियातेष्विति**।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ, वह 'बन्धुषु' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**बन्धुषु प्रतियातेषु वृष्णयः कृष्णदेवताः।**
वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ।।७०।।

श्लोकार्थ—बान्धवों के जाने पर श्रीकृष्ण को इष्टदेव मानने वाले यादव भी वर्षा ऋतु को निकट जानकर वापिस द्वारका गए ।।७०।।

सुबोधिनी—सर्वेष्वेव स्वस्वदेशं गतेषु स्वयमेकाकिनोऽपि बहुकालं स्थिताः। तत्र निःशङ्कस्थितौ हेतुः **कृष्णदेवता** इति। कृष्ण एवालौकिकप्रकारेण रक्षको येषाम्। तर्हि कथं गता इत्याकाङ्क्षायामाह **वीक्ष्य प्रावृषमासन्नामिति**। दिनचतुष्टयदशकव्यवहिताम् ।।७०।।

व्याख्यार्थ—सब अपने-अपने देश चले गए, यादव अकेले रह गए, तो भी वहाँ बहुत समय रहे, बिना किसी भय आदि की शङ्का के रहते थे; क्योंकि उनका सर्वभयहारी श्रीकृष्ण ही देवता थे, श्रीकृष्ण ही जिनकी अलौकिक प्रकार से रक्षा करते थे, तो भला गए क्यों? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वर्षा ऋतु निकट आ गई थी, आने में १४ दिन ही शेष रह गए थे ।।७०।।

आभास—ततो ये नागतास्तेषामयं महोत्सवो न जात इति शङ्कां वारयितुं वृत्तान्तकथनमाह **जनेभ्यः कथयांचक्रुरिति** ।

आभासार्थ—जो यहाँ नहीं आए थे, उनको यह महान् आनन्द न मिला, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'जनेभ्यः' श्लोक में वह वृत्तान्त मनुष्यों को कहने लगे ।

श्लोक—**जनेभ्यः कथयांचक्रुर्वसुदेवमहोत्सवम् ।**
यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्संदर्शनादिकम् ।।७१।।

श्लोकार्थ—उन्होंने जाकर सब लोगों को वसुदेवजी के यज्ञ के महोत्सव का समाचार तथा जो कुछ तीर्थ यात्रा में मित्रों के दर्शन आदि हुए थे,वह सब वृत्तांत कह कर सुनाया ।।७१।।

सुबोधिनी—**वसुदेवस्य यज्ञमहोत्सवम्** । यच्च **सुहृत्संदर्शनादिकं** तदप्येवं सात्त्विकानां निरुद्धानां परमोत्सवलक्षणं फलं दत्तवानिति ।।७१।।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी के यज्ञ का महान् उत्सव तथा जो मित्रों के दर्शन आदि हुए थे, वह भी इस प्रकार कि जिससे जो सात्त्विक निरुद्ध थे, उनको परमानन्द लक्षण वाला फल दिया, ऐसा उत्सव वहाँ आकर सबको सुनाया ।।७१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चत्रिंशाध्यायविवरणम् ।।३५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ८१वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३५वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरण का सप्तम् अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

卐

इस अध्याय में वर्णित लीला का सार

ऋषि स्तुति **राग बिलावल**

हरि-हरि-हरि सुमिरौ सब कोइ । बिनु हरि सुमिरन मुक्ति न होइ ।।
श्रीशुक, ब्यास कह्यौ जा भाइ । सोइ अब कहौं सुनौ चित लाइ ।।
सूरज-ग्रहन पर्व हरि जान । कुरुक्षेत्र में आए न्हान ।।
तहँ ऋषि हरि दरसन हित गए । हरि आगे ह्वै कै सब लए ।।
आसन दै पूजा-विधि करी । हाथ जोरि विनती उच्चरी ।।
दरस तुम्हारे देवन दुरलभ । हमकौं भयौ सो अतिहौं सुरलभ ।।
यौं कहि पुनि लोगन समुझायौ । जैसैं वेद पुराननि गायौ ।।
हरिजन कौं पूजै हरि जान । ताकौ होइ तुरत कल्यान ।।
सुर पूजा बहु विधि सौं कीजै । तीरथ जाइ दान बहु दीजै ।।
यह सब किऐं होइ फल जोइ । सत-सङ्ग सो छिन मैं होइ ।।
यह सुनि कै ऋषि रहे लजाइ । पुनि बोले हरि सौं या भाइ ।।
तुम सबके गुरु सबके स्वामी । तुम सबहिनि के अन्तरजामी ।।
तुम्है वेद ब्रह्मण्य बखानत । तातैं हमरी अस्तुति ठानत ।।
हम सेवक तुम जगत अधार । नमो-नमो तुम्है बारम्बार ।।
तुम परब्रह्म जगत करतार । नर-तनु धरचौ हरन भुव-भार ।।
सुर पूजा अरु तीर्थ बतावत । लोगनि की मति कौं भरमावत ।।
तुम निज रूप इहिं भाँति छिपायौ । काठ माँझ ज्यौं अगिनि दुरायौ ।।
वसुदेव तुमकौं जानत नाहिं । और लोग बपुरे किहि माहिं ।।
कोउ पिता, पति कोउ जानत । कोऊ सत्रु-मित्र करि मानत ।।
सर्ब असँग तुम सर्ब अधार । तुम्हैं भजै सो उतरै पार ।।
जैसै नींद माहिं कोउ होइ । बहु विधि सपनौ पावै सोइ ।।
पै तिहिं उहाँ न कछू सँभार । किहिं देखत को देखनहार ।।
यौं जे रहे विषय-रस मोइ । तिनको बुद्धि सुद्ध नहिं होइ ।।
जापर कृपा तुम्हारी होइ । रूप तुम्हारौ जानै सोइ ।।
घट-घट माहिं तुम्हारौ बास । सर्ब ठौर ज्यौं दीप-प्रकास ।।
इहिं विधि तुमकौं जानै जोइ । भक्तऽरु ज्ञानी कहिऐ सोइ ।।
नाथ कृपा अब हम पर कीजै । भक्ति अपनी हमकौं दीजै ।।
प्रेम भक्ति बिनु कृपा न होइ । सर्ब साथ हम देख्यौ जोइ ।।
तपसी तुमकौं तप करि पावैं । सुनि भागवत गृही गुन गावैं ।।
कर्म जोग करि सेवत जोइ । ज्यौं सेवै त्यौं ही गति होइ ।।
ऋषि इहि बिधि हरि के गुन गाइ । कह्यौ होइ आज्ञा जदुराइ ।।
हरि तिनकी पुनि पूजा करी । कीरति सकल जगत बिस्तरी ।।
वेद, पुरान सबनि कौ सार । व्यास कह्यौ भागवत बिचार ।।
बिनु हरि नाम नहीं उद्धार । सूर जानि यह भजौ मुरार ।।

॥ श्री हरिः ॥

अनुक्रमणिका

सात्त्विक - फल - अवान्तर - प्रकरण

उत्तरार्ध अध्याय—२८ से ३५ तक

क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१	अग्रहीच्छिरसा राजन्	३	२१	६७	२७	अस्मास्वप्रतिकल्पेयम्	७	६२	२४०
२	अच्छस्फटिककुड्येषु	४	३१	१०९	२८	अस्त्रस्य तव वीर्यस्य	१	३५	२५
३	अजानतैवाचरितस्त्वया	१	३१	२२	२९	अस्य ब्रह्मासनं दत्तम्	१	३०	२१
४	अथ ते रामकृष्णाभ्याम्	५	२८	१३६	३०	अस्य मे पादसंस्पर्शो	६	१६	१७३
५	अथ तैरभ्यनुज्ञातः	२	९	३४	३१	अहं ही सर्वभूतानाम्	५	४६	१५१
६	अथर्त्विग्भ्योऽददात्	७	५२	२३६	३२	अहो ब्रह्मण्यदेवस्य	४	१५	१००
७	अथापि काले स्वजनाः	७	१८	२०७	३३	अहो भोजपते यूयम्	५	२९	१३७
८	अथैकदा द्वारकायां	५	१	१२१	३४	अहो वयं जन्मभृतः	७	९	१९९
९	अथोचुर्मुनयो राजन्	७	३४	२२३	३५	अहो हे पुत्रका यूयम्	३	४०	८१
१०	अथोपवेश्य पर्यङ्के	३	२०	६७	३६	आत्मारामस्य तस्येमा	६	३९	१८८
११	अदान्तस्याविनीतस्य	१	२६	१८	३७	आत्मा वै पुत्र उत्पन्नः	१	३६	२५
१२	अद्य नो जन्म साफल्यम्	७	२१	२१०	३८	आदाय व्यसृजन् केचित्	६	२२	१७८
१३	अधनोयं धनं प्राप्य	४	२०	१०३	३९	आर्य भ्रातरहं मन्ये	५	१९	१३३
१४	अध्यात्मशिक्षया गोप्यः	५	४८	१५४	४०	आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वा	२	२०	३९
१५	अनीह एतद्बहुधैक	७	१७	२०६	४१	आसनानि च हैमानि	४	३०	१०९
१६	अनुश्रोतेन सरयुम्	२	१०	३४	४२	आस्तेधुना द्वारवत्याम्	३	११	६१
१७	अन्तःपुर जनो दृष्ट्वा	३	२४	६९	४३	आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां	५	७	१२५
१८	अन्यांश्चैवात्म पक्षीयान्	५	१४	१२९	४४	आहुश्च ते नलिन नाभ	५	४९	१५४
१९	अन्योन्यसंदर्शन	५	१५	१३०	४५	इति तच्चिन्तयन्नन्तः	४	२१	१०४
२०	अपि न स्मर्यते ब्रह्मन्	३	३५	७८	४६	इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा	४	१०	९६
२१	अपि ब्रह्मन् गुरुकुलात्	३	२८	७२	४७	इति संचिन्त्य मनसा	३	१३	६३
२२	अपि स्मरत नः सख्यः	५	४२	१४८	४८	इति तद्वचनं श्रुत्वा	७	४२	२३१
२३	अप्यवध्यायथास्मान्	५	४३	१४९	४९	इत्थं विचिन्त्य वसनात्	४	८	९५
२४	अप्रत्युथायिनं सूतम्	१	२३	१५	५०	इत्थं विधान्यनेकानि	३	४३	८४
२५	अम्ब मास्मानसूयेथाः	५	२१	१३४	५१	इत्थं व्यवसितो बुद्धचा	४	३८	११५
२६	अयं स्वस्त्ययनः पन्थाः	७	३७	२२५	५२	इत्थं संभाषमाणासु	७	२	१९६

क्र सं	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
५३	इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हम्	७	२७	२१६	८९	कस्मादसाविमान्	१	२४	१६
५४	इत्युक्तोपि द्विजः तस्मै	४	५	९३	९०	काम कोष्णीं पुरीं कांचीम्	२	१४	३६
५५	इत्युत्तमश्लोकशिखामणिम्	६	५	१६४	९१	कामयामह एतस्य	६	४२	१९०
५६	इयदेव हि सच्छिष्यैः	३	४१	८२	९२	किमनेन कृतं पुण्यं	३	२५	६९
५७	इल्वलस्य सुतो घोरो	१	३८	२६	९३	किमस्माभिर्न निर्वृत्तम्	३	४४	८४
५८	ईजे च भगवान् रामः	५	४	१२३	९४	किमुपायमानीतम्	४	३	९०
५९	ईजेऽनु यज्ञं विधिना	७	५१	२३५	९५	किंचित्करोत्युर्वपि भूरि	४	३५	११२
६०	ईदृग्विधान्य संख्यानि	२	३३	४६	९६	किं वः कामो मुनिश्रेष्ठाः	१	३७	२६
६१	उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तल	६	२९	१८१	९७	किं स्वल्प तपसाम्	७	१०	१९९
६२	उपगीयमान विजयः	१	१५	१०	९८	कुचैलं मलिनं क्षामम्	३	२३	६८
६३	उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ	२	१२	३५	९९	कुतोऽशिवं त्वच्चरण	६	३	१६०
६४	उवाच सुखमासीनान्	७	८	१९८	१००	कुन्तिभोजो विराटश्च	५	२५	१३६
६५	ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातः	७	३९	२२८	१	कृष्णरामौ परिष्वज्य	५	३५	१४२
६६	ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रम्	२	१५	३६	२	कृष्णस्यासीत्सखा	३	६	५७
६७	ऋषेर्भगवतो भूत्वा	१	२५	१७	३	केचित्कुर्वन्ति कर्माणि	३	३०	७४
६८	एक पदातिः संक्रुद्धो	१	२	३	४	को नु श्रुत्वा सकृद्ब्रह्मन्	३	२	५१
६९	एतदर्थो हि लोकेस्मिन्	१	२७	१९	५	को विस्मरेत वां मैत्रीम्	५	३८	१४८
७०	एतद्ब्रह्मण्य देवस्य	४	४१	११८	६	क्वाहं दरिद्रः पापीयान्	४	१६	१०१
७१	एतद्विदित्वाऽनुदिते	३	३९	८१	७	गजैर्नदद्भिरभ्रामैः	५	८	१२६
७२	एतावतालं विश्वात्मन्	४	११	९७	८	गदया निहतोप्याजौ	१	८	७
७३	एतावदुक्त्वा भगवान्	१	२८	२०	९	गदायाश्री उभौ दृष्ट्वा	२	२५	४२
७४	एताव.ष्ट पितरौ	५	३९	१४५	१०	गदामुद्यम्य कारुषः	१	४	४
७५	एवं त्वायं जनो ब्रह्मन्	७	२५	२१४	११	गाढ निर्भिन्न हृदयः	१	६	७
७६	एवं मीमांसमानं तम्	४	२४	१०६	१२	गृहं द्वयष्टसहस्राणाम्	३	१७	६४
७७	एवं योगेश्वरः कृष्णो	१	१६	११	१३	गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य	५	४०	१४६
७८	एवं रुक्षैस्तुदन् वाक्यैः	१	७	६	१४	गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा	२	११	३५
७९	एवं वृते भगवति	६	३१	१८३	१५	चरिष्ये वधनिर्वेशम्	१	३४	२४
८०	एवं स भार्यया विप्रो	३	१२	६२	[illegible]	चिरं बिमृश्य मुनयः	७	१५	२०४
८१	एवं स विप्रो भगबान्	४	४०	११७	१७	चैद्याय मार्पयितु मुद्यत	६	८	१६६
८२	एवं सौभं च शाल्वं च	१	१३	१०	१८	जनेभ्यः कथयाञ्चक्रुः	७	७१	२४६
८३	एवं सौहृदशैथिल्य	७	६५	२४२	१९	जुष्टं स्वलंकृतैः पुंभिः स्त्रीभिः	४	२३	१०५
८४	एवं ह्येतानि भूतानि	५	४७	१५२	२०	ज्ञात्वा मम मतं साध्वि	६	१८	१७५
८५	कच्चिद्गुरुकुले वासम्	३	३१	७६	२१	त एनमृषयो राजन्	७	४३	२३२
८६	कथयांचक्रतुर्गाथाः	३	२७	७१	२२	त एवं लोकनाथेन	६	२	१५९
८७	कंसप्रतापिताः सर्वे	५	२२	१३४	२३	ततः कामैः पूर्यमाणः	७	६७	२४३
८८	कर्मणा कर्मनिर्हारः	७	३५	२२३	२४	ततः पर्वण्युपावृत्तो	२	१	३०

क्र सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र सं	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१२५	ततः पुरीं यदुपतिः	६	३६	१८६	१६१	तस्याद्य ते ददृशिम	७	२६	२१५
२६	ततः फाल्गुनमासाद्य	२	१८	३८	६२	तस्यैव मे सौहृदसख्ह	४	३६	११३
२७	ततश्च भारतं वर्षम्	१	४०	२८	६३	तान्दृष्ट्वा सहसोत्थाय	७	६	१९७
२८	ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः	१	१०	८	६४	तानानर्चुर्यथा सर्वे	७	७	१९७
२९	ततोतिव्रज्य भगवान्	२	१९	३९	६५	ताभिर्दुकूलवलयैः	७	४८	२३४
३०	ततोभिवाद्य ते वृद्धान्	५	१७	१३२	६६	तावन्मृदङ्गपटहाः	६	३०	१८२
३१	ततोमेध्यमयं वर्षम्	२	२	३०	६७	तावात्मासनमारोप्य	५	३६	१४३
३२	तत्रागस्त्यं समासीनम्	२	१७	३७	६८	तुष्टोहं हे द्विजश्रेष्ठाः	२	४२	८३
३३	तत्रायुतमदाद्धेनूः	२	१६	३७	६९	तेऽन्वसज्जन्त राजन्याः	६	३४	१८५
३४	तथानुगृह्य भगवान्	६	१	१५८	७०	तेभ्यो विशुद्धविज्ञानम्	२	३१	४५
३५	तदा रामश्च कृष्णश्च	७	५०	२३५	७१	ते शार्ङ्गच्युत बाणोघैः	६	३५	१८५
३६	तद्दर्शन स्पर्शनानुपथ	५	३१	१३९	७२	त्रीणि गुल्मान्यतीयाय	३	१६	६४
३७	तद्दीक्षायां प्रवृत्तायाम्	७	४४	२३२	७३	त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां	७	४०	२३०
३८	तद्वीक्ष्य तानुपव्रज्य	७	२८	२१७	७४	त्वं मातुलेयो न कृष्णः	१	५	५
३९	तद्रङ्गमाविशमहं कल	६	२८	१८०	७५	ददुः स्वर्णं द्विजाग्र्येभ्यः	५	११	१२८
४०	तन्महिष्यश्च मुदिता	७	४५	२३३	७६	दमघोषो विशालाक्षः	५	२६	१३६
४१	तं क्लेशकर्म परिपाक	७	३३	२२१	७७	दारुकश्चोदयामास	६	३३	१८४
४२	तं ज्ञात्वा मनुजा राजन्	५	२	१२२	७८	दासीभिः सर्व संपद्भिः	६	३८	१८७
४३	तं तथा यान्तमालोक्य	१	३	४	७९	दिवि दुन्दुभयो नेदुः	६	२७	१७९
४४	तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टाः	५	३३	१४१	८०	दिव्यस्रग्वस्त्रसंवाहाः	५	९	१२७
४५	तं पापं जहि दाशार्ह	१	३९	२७	८१	दिष्टं तदनुमन्वानौ	२	२९	४३
४६	तं पुनर्नैमिषं प्राप्तम्	२	३०	४४	८२	दीर्घमायुर्बतैतस्य	१	३४	२४
४७	तं विलोक्य बृहत्कायम्	२	३	३१	८३	द्वितस्त्रितश्चैकतश्च	७	५	१९६
४८	तं विलोक्याच्युतो दूरात्	३	१८	६५	८४	द्वैपायनो नारदश्च	७	३	१९६
४९	तपश्चरन्तीमाज्ञाय	६	११	१६९	८५	धूपैः सुरभिभिर्मित्रम्	३	२२	६७
५०	तमभ्रपिश्चद्विविवत्	७	४७	२३४	८६	धृतराष्ट्रोनुजः पार्थाः	७	५७	२३८
५१	तमाकृष्य हलाग्रेण	२	५	३२	८७	न तद्वाक्यं जग्रहतुः	२	२८	४३
५२	तमागतमाभिप्रेत्य	१	२१	१३	८८	ननु ब्रह्मन् भगवतः	३	९	५९
५३	तमुपैहि महाभाग	३	१०	६०	८९	नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान्	५	३२	१४०
५४	तह्यानृण्यमुपैम्यज्ञ	१	६	५	९०	नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्	७	५९	२३९
५५	तस्मादेकतरस्येह	२	२७	४३	९१	नन्दस्तु सह गोपालैः	७	६६	२४३
५६	तस्माद् ब्रह्मकुलं ब्रह्मन्	७	२०	२०९	९२	नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च	७	६९	२४५
५७	तस्मिन् संधाय विशिखम्	६	२६	१७९	९३	नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन्	३	३३	७७
५८	तस्य चाप ततः कृष्णः	१	१२	९	९४	नन्वेतदुपनीतं मे	४	९	९६
५९	तस्यर्त्विजो महाराज	७	४९	२३४	९५	नन्वब्रुवाणो दिशते	४	३४	१११
६०	तस्य वै देव देवस्य	४	३९	११६	९६	नमस्तस्मै भगवते	७	२२	२११

क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ	क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
१९७	नमो वः सर्वदेवेभ्यः	७	२९	२१७	२३३	ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णः	४	२	८९
९८	न यं विदन्त्यमी भूपाः	७	२३	२१२	३४	ब्राह्मणास्तां तु रजनीम्	४	१२	९८
९९	न वयं साध्वि साम्राज्यं	६	४१	१८९	३५	ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धेनूः	५	१०	१२७
२००	न ह्यम्मयानि तीर्थानि	७	११	२००	३६	भक्ताय चित्रा भगवान्	४	३७	११४
१	नाग्निर्न सूर्यो न च चन्द्र	७	१२	२०२	३७	भगवन् यानि चान्यानि	३	१	५०
२	नानालंकार वासांसि	७	५४	२३७	३८	भगवांस्तास्तथाभूता	५	४१	१४८
३	नापि चित्रमिदं विप्राः	७	३०	२१९	३९	भीष्मोद्रोणोंबिका पुत्रो	५	२४	१३५
४	नाहमिज्या प्रजातिभ्याम्	३	३४	७८	४०	भुक्त्वोपविविशुः	५	१२	१२८
५	निः क्षत्रियां महीं कूर्वन्	५	३	१२२	४१	भौमं निहत्य सगणं	६	४०	१८८
६	निवासितः प्रियाजुष्टे	४	१७	१०१	४२	भ्रातरीशकृतः पाशः	७	६१	२४०
७	निशम्येत्थं भगवतः	७	१४	२०४	४३	अत्स्याभासं जले वीक्ष्य	६	२४	१७९
८	नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य	४	३३	११०	४४	मत्स्योशीनर कौशल्य	५	१३	१२९
९	नेदुर्मृदङ्ग पटह	७	४६	२३३	४५	ममापि राज्यच्युतजन्म	६	१७	१७४
१०	पतिमागतमाकर्ण्य	४	२५	१०६	४६	मयि भक्तिर्हि भूतानाम्	५	४५	१५०
११	पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा	४	२६	१०७	४७	महत्यां तीर्थयात्रायाम्	५	५	१२४
१२	पतिव्रता पतिं प्राह	३	८	५८	४८	मा राज्यश्रीरभूत् पुंसः	७	६४	२४२
१३	पत्नीं दृष्ट्वा प्रस्फुरन्तीम्	४	२७	१०७	४९	मां तावद्रथमारोप्य	६	३२	१८३
१४	पत्नीसजायाव भृत्यैः	७	५३	२३६	५०	मुनिभिस्सिद्धगन्धर्वैः	१	१४	१०
१५	पत्न्या मे प्रेषितायातः	४	७	९४	५१	य इत्थं वीर्य शुल्कां माम्	६	१४	१७२
१६	पत्र पुष्पं फलं तोयं	४	४	९१	५२	यथा शयानः पुरुषः	७	२४	२१३
१७	पयः फेननिभाः शय्याः	४	२९	१०८	५३	यथा स्वयंवरे राज्ञि	६	१९	१७६
१८	पिता मे पूजयामास	६	३७	१८७	५४	यदृच्छयोपपन्नं न	३	७	५७
१९	पिता मे मातुलेयाय	६	१५	१७२	५५	यद्विश्रुतिः श्रुतिनुतेदमलम्	५	३०	१३८
२०	पिता संपूजिताः सर्वे	६	२१	१७७	५६	यद्येतद्ब्रह्म हत्यायाः	१	३२	२३
२१	पृथा भ्रातॄन् स्वसॄर्वीक्ष्य	५	१८	१३२	५७	यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा	७	१६	२०५
२२	प्रथुदकं बिन्दुसरः	१	१९	१३	५८	यमुनामनुयान्त्येव	१	२०	१३
२३	प्रविश्य रेवामगमत्	२	२१	३९	[illegible]	ययुस्ते भारतं क्षेत्रम्	५	६	१२४
२४	प्रविष्टानां महारण्यम्	३	३६	७९	०	यस्य छन्दोमयम्	३	४५	८५
२५	प्रागकल्पास्तु कुशलम्	७	६३	२४१	६१	यस्यात्मबुद्धिः कुणपे	७	१३	२०३
२६	प्राज्ञाय देहकृदमुम्	६	१०	१६८	६२	यस्यानुभूति. कालेन	७	३२	२२०
२७	प्रायो गृहेषु ते चित्तम्	३	२९	७३	६३	याचित्वा चतुरो मुष्टीन्	३	१४	६३
२८	प्रीतः स्वयं तथा युक्त	४	२८	१०८	६४	युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा	२	२४	४१
२९	बन्धुषु प्रतियातेषु	७	७०	२४५	६५	युवां तुल्य बलौ वीरौ	२	२६	४२
३०	बन्धून् परिष्वज्य	७	५८	२३८	६६	यो मां स्वयंवर उपेत्य	६	१२	१७०
३१	बन्धून्सदारान् ससुतान्	७	५५	२३७	६७	यो मे सनाभिवधतप्त	६	९	१६७
३२	ब्रह्म ते हृदयं शुक्लम्	७	१९	२०८	६८	योऽसौ त्रैलोक्य गुरुणा	३	२६	७०

क्र.सं.	प्रतीक	अध्याय	श्लोक	पृष्ठ
२६९	राजन्येषु निवृत्तेषु	६	२५	१७९
७०	राजानोन्ये च राजेन्द्र	५	२७	१३६
७१	रामः सशिष्यो भगवान्	७	४	१९६
७२	रोहिणी देवकी चाथ	५	३७	१४३
७३	वयं भृशं तत्र महानिलाम्बु	३	३८	८०
७४	वसुदेव भवान्नूनं	७	४१	२३०
७५	वसुदेवः परिष्वज्य	५	३४	१४२
७६	वसुदेवोग्रसेनाद्यैः	५	२३	१३५
७७	वसुदेवोग्रसेनाभ्याम्	७	६८	२४४
७८	वसुदेवोञ्जसोतीर्य	७	६०	२३९
७९	वायुर्यथा घनानीकम्	५	४४	१५०
८०	विचित्रोपवनोद्यानैः	४	२२	१०४
८१	वित्तस्योपशमोयं वै	७	३६	२२४
८२	वित्तेषणां यज्ञ दानैः	७	३८	२२६
८३	विदुरथस्तु तद्भ्राता	१	११	९
८४	विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र	४	३२	११०
८५	विष्णुरातेन संपृष्टो	३	५	५६
८६	वैजयन्तीं ददुर्मालाम्	२	८	३३
८७	व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति	६	४३	१९१
८८	शिरस्तु तस्योभयलिङ्ग	३	४	५५
८९	शिशुपालस्य शाल्वस्य	१	१	२
९०	शश्रुषया परमया	४	१८	१०२
९१	श्रृण्वन् गृणश्च राभस्य	२	३४	४७
९२	श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानम्	२	२२	४०
९३	श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ	७	१	११५
९४	श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः	१	१७	१२
९५	श्रुत्वैतत्सर्वतो भूपाः	६	२०	[illegible]
९६	श्वोभूतो विश्वभावेन	४	१३	[illegible]
२९७	य इत्थं द्विजमुख्येन	४	१	८९
९८	सख्युः प्रियस्य विप्रर्षे	३	१९	६६
९९	स चालब्ध्वा धनम्	४	१४	१००
३००	सञ्जयं कृत्वाऽपरे वीरा	६	२३	१७८
१	स तानादाय विप्राग्र्यः	३	१५	६४
२	सदस्यर्त्विक् सुरगणान्	७	५६	२३७
३	संनिकर्षोऽत्र मर्त्यानाम्	७	३१	२१९
४	सप्तोक्षणोति बलवीर्य	६	१३	१७१
५	स भीमदुर्योधनयोः	२	२३	४०
६	सर्वभूतात्मदृक् साक्षात्	४	६	९४
७	स वै सत्कर्मणां साक्षात्	३	३२	७६
८	सस्मार मुसत्वं रामः	२	४	३१
९	सा वाग् यया तस्य	३	३	५२
१०	सुहृदो ज्ञातयः पुत्राः	५	२०	१३३
११	सूर्यश्चास्तं गतस्तावत्	३	३७	७९
१२	सोऽर्चितः सपरीवारः	१	२२	१५
१३	सोपतद्भुवि निर्भिन्न	२	६	३२
१४	संस्तुत्य मुनयो रामम्	२	७	३३
१५	स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः	२	१३	३६
१६	स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य	१	१८	१२
१७	स्वपत्न्यावभृथ स्नातो	२	३२	४६
१८	स्वर्गापवर्गयोः पुंसाम्	४	१९	१०२
१९	स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोति	५	१६	१३१
२०	हाहेति वादिनः सर्वे	१	२९	२०
२१	हित्वात्मधाम विधुतात्म	६	४	१६२
२२	हे कृष्णपत्न्य एतन्नः	६	७	१६५
२३	हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे	६	६	१६५

आश्रय का पद

भरोसो दृढ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जग माहिं अंधेरो ॥१॥
साधन और नहिं या कलि में, जासों होय निवेरो।
सूर कहा कहे दुविध आंधरो, बिना मोल को चेरो ॥२॥

प्रकाशन
(राजस्थान)